महाभारत का काव्यार्थ

इस व्याख्यानमाला के अन्य
प्रकाशित ग्रन्थ

- भारतीय परम्परा के मूल स्वर
  डॉ॰ गोविन्द चन्द्र पाण्डे
- भारतीय संस्कृति पुरातात्विक आधार
  डॉ॰ गोविन्द राय शर्मा

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली

हीरानन्द शास्त्री स्मारक
व्याख्यानमाला-४

महाभारत का काव्यार्थ
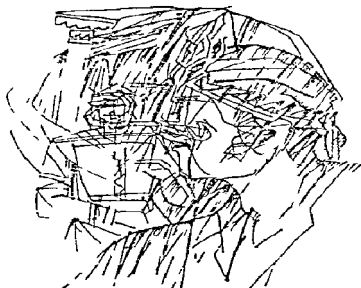
विद्यानिवास मिश्र

पूज्य ब्रह्मलीन स्वामी करपात्री जी

की

पुण्य स्मृति को सादर समर्पित

निवेदन

वत्सल निधि द्वारा आयोजित डॉ० हीरानन्द शास्त्री स्मारक व्याख्यानमाला की पाँचवी लड़ी के रूप में 'महाभारत का काव्यार्थ' विषय पर तीन व्याख्यान देना स्वीकार करके डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने स्वयं तो न्यास को मान दिया ही, जिस सहृदय श्रोता-मंडली ने वे व्याख्यान सुने उनके साधुवाद का लक्ष्य भी बनाया। सभी की हार्दिक इच्छा थी कि ये व्याख्यान मुद्रित रूप में शीघ्र उपलब्ध कराये जायें, विद्वान वक्ता के सहयोग से यह सम्भव हो पाया है इस का वत्सल निधि को बड़ा सन्तोष है।

न्यास की ओर से वक्ता को जो मानदेय दिया जाता है वह तो विद्यानिवास जी ने वापस न्यास को उसके कार्यों के लिए दिया ही, इस पुस्तक की लेखक के प्राप्य के रूप में उन्हें जो आय होती वह भी उन्होंने वत्सल निधि के स्थायी कोष के लिए अर्पित कर दी है। विद्यानिवास जी मेरे लिए तो भाई सरीखे हैं, वत्सल निधि के भी वह एक न्यासधारी हैं, उन के आभार का उल्लेख करते भी सकोच होता है। पर न्यास के उद्देश्यों को उन का यह समर्थन भविष्य में अनेक रूपों में फलेगा, यह विश्वास हम सब को बल देता है।

—सच्चिदानन्द वात्स्यायन

आभार

'महाभारत का काव्यार्थ' लिख गया, या लिखा लिया गया, इसका श्रेय महाभारतकार कृष्णद्वैपायन को और महाभारत के टीकाकारो को (विशेष रूप मे श्री मन्मथ्वाचार्य, सदानन्द यति और नीलकठ दीक्षित को) है, और दूसरे ब्रह्मलीन स्वामी करपात्री जी तथा स्वामी अखण्डानन्द जी जैसे परम्परागत मनीषियो एव स्व० सुखथणकर और स्व० वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे आधुनिक विद्वानो को है। इन सब का ऋणी हूँ। आदरणीय भाई (वात्स्यायनजी) की प्रेरणा और इसके लिए निरन्तर उकसाव के बिना (और बिना उनके घर मे अवरुद्ध हुए!) तो यह लिखा नही जा सकता था। उनके प्रति आभार क्या व्यक्त करूँ, उन्ही की वस्तु उन्ही को अर्पित है।

परिशिष्ट तैयार करने मे डॉ० शशि तिवारी, डॉ० अचना चतुर्वेदी और श्री वषभप्रसाद जैन ने सहायता की है, इन्हे स्नेहाशीष देता हूँ। छपने देने के पूर्व पूज्य भैयासाहब (प० श्री नारायण चतुर्वेदी) को मैंने व्याख्यानो के मुख्य अश सुनाये थे, उन्होने बहुत आशीर्वाद दिया था। तीन दिनो तक दिल्ली के प्रबुद्ध श्रोता इसे स्नेहपूर्वक सुनते रहे। उनका मैं बहुत आभारी हूँ। इला बहन ने व्याख्यान का आयोजन एक मागलिक अनुष्ठान के रूप मे बहुत ही मनोयोग से किया, उन्हें भी असीसता हूँ।

—विद्यानिवास मिश्र

विषय-सूची

भूमिका

भारतीय साहित्य मे महाभारत एक बहुचर्चित ग्रन्थ है। उसे समस्त भारतीय साहित्य का स्रोत ग्रन्थ भी माना जाता है। केवल इस अर्थ मे स्रोत ग्रन्थ नही कि उसकी मुख्य कथा और छोटी कथाओ के आधार पर समस्त भारतीय भाषाओ मे काव्य, नाटक, चम्पू लिखे गये हैं बल्कि इस अर्थ मे भी कि महाभारत में प्रस्तुत मानव-स्वरूप भारतीय मन पर छाया हुआ है और जब कभी भी अन्धकार के क्षण मे किसी रचनाकार को राह नही दिखती है, तो उसे महाभारत से आलोक मिलता है। इसीलिए उसे ज्ञानमय प्रदीप कहा गया है। वह एक सनातन स्रोत है और निरन्तर आधुनिक है। इसमे किसी युग-विशेष का ही चित्र नहीं है, मनुष्य के सामाजिक विकास के अनेक सोपान महाभारत मे वर्णित मिलते हैं—उस समय से ले कर, जब विवाह सस्था नही थी, उस समय तक जब विवाह-सस्था दृढ हो चुकी थी, जब चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का प्रारम्भ नही हुआ था, वहाँ से ले कर वहाँ तक जब चातुर्वर्ण्य स्थापित हो चुका था। इसलिए महाभारत ग्रन्थ के आधार पर महाभारत-युग की बात करना कोई सगति नही रहता। इसी प्रकार यद्यपि महाभारत मे अनेक देशो की चर्चाएँ हैं तथापि उस का घटना-केन्द्र कुरु-पाञ्चाल प्रदेश ही रहता है। इस स्थूल सचाई के बावजूद महाभारत कुरु-पाञ्चाल देश का काव्य नही है। वह केवल भारत देश का भी काव्य नही है। न वह किसी विशेष प्रकार के रक्त वाले जन समूह का काव्य है। महाभारत रक्त के मिश्रण, जातियो के सङ्कर और क्षेत्रीय सीमाओ के निरन्तर टूटते रहने से जो विचित्र प्रकार की मानवीय एकता की परिस्थिति उत्पन्न होती है, उस परिस्थिति का काव्य है। उसमे कहीं भी किसी भी प्रकार की सकीर्णता नही दीखती।

दुर्भाग्य की बात यह है कि ऐसी व्यापक भावभूमि के काव्य को तथाकथित ऐतिहासिक अध्ययन के चक्रव्यूह मे ऐसे डाल दिया गया है कि इस ग्रन्थ की चर्चा मे तीन ही रूप विशेष महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। ये तीनो रूप महाभारत के केन्द्र से सम्बन्ध नहीं रखते, उसके हाशिये से सम्बन्ध रखते हैं। पहला रूप है

महाभारत की तिथि का विचार। दूसरा रूप है उसकी प्रामाणिकता पर विचार और तीसरा है उसके धर्मशास्त्रीय रूप पर विचार। महाभारत का रचनाकाल पहले पश्चिमी विद्वानों द्वारा गुप्त काल माना जाता रहा। और यह माना जाता रहा है कि जिस रूप में आज महाभारत मिलता है उस रूप तक पहुँचने में कम से कम छ: सौ वर्ष लगे होंगे। पहले सूतों और मागधों के बीच किसी पुराने युद्ध के गीत नाराशंसी गाथा के रूप में कई पीढ़ियों तक प्रचलित रहे होंगे। उसके अनन्तर एक कहानी का आकार उसे 'जय' नाम से मिला होगा। इस जय का विस्तार हुआ होगा तो लगभग चौबीस हजार श्लोकों का 'भारत' रचा गया होगा। इस भारत में अनेक उपाख्यान और अवान्तर प्रसंग जोड़कर 'महाभारत' का यह वर्तमान रूप प्रचलित हुआ होगा। सुखथणकर ने यह भी कल्पना की है कि वर्तमान महाभारत भृगुओं की कृति है जिसमें भृगुवंश के महत्त्व का एक ओर सन्निवेश कर दिया है और दूसरी ओर इसमें वैष्णव भक्ति के नये आयाम को मूल कथा के ऊपर आरोपित कर दिया है। विंटरनिट्ज जैसे विद्वान् तो श्रीमद्भगवद्गीता को भी महाभारत से अलग रचना मानते हैं। वह इन दोनों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं देख पाते हैं।

महाभारत के दो प्रकार के विभाजन हैं—अष्टादश पर्वात्मक और शत-पर्वात्मक। अठारह पर्वों के क्रम से नाम हैं—आदि, सभा, वन, विराट, उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री, शान्ति, अनुशासन, आश्वमेधिक आश्रमवासिक, मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहण। इसके खिल पर्व के रूप में हरिवंश का नाम लिया जाता है। महाभारत की पाण्डुलिपियों के तीन मुख्य संस्करण मिलते हैं—नीलकण्ठ की प्रति, कुम्भकोणम् की प्रति और भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट की प्रति। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने यह स्थापना की है कि महाभारत काल में ही महाभारत का प्रथम संस्करण व्यास ने तैयार किया। दूसरा संस्करण वैशम्पायन ने उन से कुछ ही समय बाद तैयार किया। तीसरा संस्करण सौति ने ई० पू० चौथी या तीसरी शताब्दी में तैयार किया और नैमिषारण्य में शौनक को सुनाया। सौति ने पर्वश: श्लोक संख्या देते हुए एक अनुक्रमणी बनायी। इस अनुक्रमणी से सम्प्रति प्राप्त संस्करणों में कुछ न कुछ अन्तर है। उस अन्तर की तालिका श्री सातवलेकर ने तैयार की है जो अगले पृष्ठ पर दी जा रही है—

पर्व	अनुक्रमणिकोक्त प्रति		नीलकण्ठ की प्रति		कुम्भकोण की प्रति		भण्डारकर आरियण्टल रिसर्च इस्टी० प्रति	
	अध्याय	श्लोक	अध्याय	श्लोक	अध्याय	श्लोक	अध्याय	श्लोक
आदिपर्व	२२७	८८८४	२३४	८४६६	२६०	१०९९८	२१८	७९८४
सभा०	७८	२५११	८१	२७०२	१०२	४३७७	७२	२५११
वन०	२६९	११६६४	३१८	११८५४	३१५	१४०८१	२६९	११६६४
विराट्०	६७	२०५०	७२	२३२७	७८	३५७५	६७	२०५०
उद्योग०	१८६	६६९८	१९६	६६१८	१९६	६७५२	१८६	६६९८
भीष्म०	११७	५८८४	१२२	५८१७	१२२	५९०८	११७	५५८८
द्रोण०	१७०	८९०९	२०२	९५९३	२०३	१०१२७	१७०	८९०९
कर्ण०	६९	४९६४	६९	४९८७	१०१	४९८६	६९	४९००
शल्य०	५९	३२२०	६५	३६०८	६६	३५९४	५९	३२२०
सौप्तिक०	१८	८७०	१८	८१०	१८	८१५	१८	८७०
स्त्री०	२७	७७५	२७	८२६	२७	८०७	२७	७७५
शान्ति०	३२९	१४७३२	३६६	१३७३२	३७५	१५१५३	३३९	१४५२५
अनुशासन०	१४६	८०००	१६८	७८३९	२७४	१०९८३	१४६	६७२०
आश्वमेधिक०	१०३	३३२०	९२	२८५२	११८	४५४३	१३३	३३२०
आश्रमवासिक०	४२	१५०६	३९	१०८५	४१	१०९८	४२	१५०६
मौसल०	८	३२०	८	२८७	९	३००	८	३००
महाप्रास्थानिक०	३	१२०	३	१०९	३	१११	३	१२०
स्वर्गारोहण०	५	२०९	६	३०७	६	३३७	५	२००
हरिवंश० X	२६३	१२०००	—	१२०००	—	१२०००	—	१२०००
योग	२३७२	९६८३६		९५८२६		९८५४५		९४२४६

इस तालिका को देखने से लगता है कि हरिवंश के सम्बन्ध मे तो यह तालिका सभी प्रतियो मे एक-सी है। किन्तु अठारह पर्वों की तालिका अनुक्रमणी की तालिका से मेल खाती है भण्डारकर इस्टीट्यूट की प्रति के साथ। यही प्रति सर्वाधिक प्रामाणिक मानी जाती है। उपपर्वों की नामावली इस प्रकार है—अनुक्रमणिका, पौष्य,पौलोम, आस्तीक, आदिवंशावतरण, शकुन्तलोपाख्यान, ययाति उपाख्यान, सम्भव, जातुगृहदाह हिडिम्बवध, बकवध, चैत्ररथ, वाशिष्ठोपाख्यान, द्रौपदी स्वयंवर, विदुरागमन, राज्यलम्भ, सुन्दोपसुन्दोपाख्यान, अर्जुन वनवास, सुभद्रा-हरण, खाण्डवदाह, सभा, मन्त्र, जरासन्धवध, दिग्विजय, राजसूय अर्घाभिहरण, शिशुपालवध, द्यूत, अनुद्यूत, आरण्यक, किरमीरवध, कैरात, इन्द्रलोकाभिगमन, तीर्थयात्रा, रामोपाख्यान पर्व, नलोपाख्यान पर्व, सुकन्योपाख्यान, मान्धातोपाख्यान, अष्टावक्रीयोपाख्यान, यवक्रतोपाख्यान, जटासुरवध, यक्षयुद्ध, आजगर, मार्कण्डेयसमास्या, द्रौपदी सत्यभामासंवाद, घोषयात्रा, मृगस्वप्नभय, व्रीहिद्रौणिक, द्रौपदीहरण, कुण्डलाहरण, आरणेय, वैराट, कीचकवध, गोग्रहण, वैवाहिक, उद्योग, सजययान, प्रजागर, सनत्सुजात, यानसंधि, भगवद्यान, वाष्र्णोपनिवाद अभिनिर्याण, भीष्माभिषेचन, उलूकयान, सख्या, अम्बोपाख्यान, जम्बूखण्डनिर्माण, भूमि, भगवद्गीता, भीष्मवध, द्रोणाभिषेक, सशप्तकवध, अभिमन्युवध प्रतिज्ञा, जयद्रथवध, घटोत्कचवध, द्रोणवध, नारायणास्त्रमोक्ष, कर्णवध, शल्यवध, ह्रदप्रवेश, तीर्थयात्रा, गदायुद्ध, सौप्तिक, ऐषीक, जलप्रदानिक, श्राद्ध, राजधर्म आपद्धर्म, मोक्षधर्म, दानधर्म, आश्वमेधिक, आश्रमवासिक, नारदागमन मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहण तथा खिलपर्व (हरिवंश)।

शतपर्वात्मक महाभारत का उल्लेख मध्य एशिया मे प्राप्त एक बौद्ध पाण्डुलिपि मे मिलता है और पर्वों के नाम भी मिलते हैं। कुछ नाम पढने मे नही आते हैं किन्तु खिलपर्व का नाम स्पष्ट रूप से मिलता है। कनिष्क के काल के अश्वघोष ने वज्रसूची उपनिषद मे हरिवंश के श्लोक का उदाहरण दिया है। बोधायन के गृह्य सूत्र मे विष्णुसहस्रनाम का उल्लेख है तथा गीता से उद्धरण दिया गया है। पाणिनि ने 'भारत' शब्द का अर्थ भारतसग्राम किया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र मे भारत एवं महाभारत का उल्लेख है। पाणिनि ने युधिष्ठिर भीम, विदुर और महाभारत के सन्दर्भ (अष्टाध्यायी—८/३/६५, ३/२/१६२, ३/४/७४, ६/२/३८) अपने सूत्रो मे दिये हैं। पतञ्जलि ने कौरव-पाण्डव-युद्ध का उल्लेख किया है। बौद्ध वाङ्मय मे जातकों मे पाण्डवो की कथा मिलती है। किन्तु महाभारत का स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। अब मध्य एशिया के प्रमाण मे इतना निश्चित है कि महाभारत का शतपर्वात्मक रूप ईसा की पहली शताब्दी पूर्व मध्य एशिया तक प्रसिद्ध हो गया था। इसका अर्थ यह तो है ही कि कम से कम उससे सौ वर्ष पूर्व यह रूप प्रस्तुत हो चुका था। अतः यह

मानना कि महाभारत को अन्तिम रूप गुप्त काल मे दिया गया और उसके रचने की प्रक्रिया ई० पू० ४०० मे शुरू हुई, तथ्य का अपलाप करना है। निश्चय ही वर्तमान रूप मे महाभारत ई० पू० तीसरी चौथी शताब्दी मे बन चुका था और भारतीय जाति-स्मृति के लिए 'जय' और 'भारत' केवल इतना महत्त्व रखते हैं कि वे 'महाभारत' मे समा गये है। उनको अलग करना भारतीय प्रज्ञा ने आवश्यक नही समझा।

पाश्चात्य विद्वानो मे केवल तीन विद्वान ऐसे हैं जिन्होने महाभारत को एक अन्वित रचना माना है। डालमान ने माना है कि महाभारत एक व्यक्ति की काव्य-रचना है क्यो कि उसमे एक सुनिश्चित पूर्वापर सम्बन्ध है और एक सुनिश्चित काव्य-उद्देश्य की पूर्ति है। सिल्वां लेवी ने भण्डारकर स्मृति ग्रन्थ के अपने निबन्ध मे लिखा है कि महाभारत एक मुख्य रस की निष्पत्ति के लिए केन्द्रभूत सत्य को निरन्तर ध्यान मे रखते हुए कलात्मक और सगठित ढग से रचा गया ग्रन्थ है। तीसरे विद्वान हम्बोल्ट ने श्रीमद्भगवद्गीता पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत की परिस्थितियो से उद्भूत है, उसकी स्थिति उसके अग के रूप मे हैं।

परतु ओल्डनबर्ग, होल्त्समान और विटरनिट्ज ने महाभारत को एक निरन्तर परिवर्द्धमान ग्रन्थ माना है जिसमे कई व्यक्तियो की रचनाएँ हैं, पुरानी रचना का नया रूपान्तरण है। और होल्त्समान ने तो यहाँ तक माना है कि पूर्व महाभारत मे पाण्डव विजेता नही थे, कौरव विजेता थे, पाण्डवो का उदात्तीकरण बाद की कल्पना है। विटरनिट्ज ने 'भारतीय साहित्य का इतिहास' के प्रथम खण्ड मे महाभारत के रचना-काल के सम्बन्ध मे सक्षेप मे ये विचार रखे हैं

१ महाभारत मे कुछ अलग-अलग मिथ, पुराकथाएँ, आख्यान, काव्यांश, वैदिक युग के हैं।

२ भारत या महाभारत नाम के महाकाव्य का अस्तित्व वैदिक युग मे नही था।

३ महाभारत के बहुत से नीतिपरक आख्यान और सूक्तियाँ श्रमण या तपोवन काव्य हैं जो छठी शताब्दी से आगे रचा जाता रहा और इसमे बौद्धो और जैनो का योगदान था।

४ यदि किसी तरह यह मान भी लिया जाये कि चौथी शताब्दी के पूर्व महाभारत नाम के ग्रन्थ का अस्तित्व था तो कम से कम इतना तो सच है कि बौद्ध धर्म की प्रादुर्भाव-भूमि मे यह अत्यन्त अल्प ज्ञात था।

५ महाभारत नाम के काव्य के चौथी शताब्दी ई० पू० के कोई भी निर्णायक साक्ष्य नही है।

६ चौथी शताब्दी ई० पू० से ईसा तक लगभग छ सात सौ वर्षों तक महाभारत आकार म धीरे धीरे विपुल होता रहा।
७ चौथी शताब्दी ईसवी म ग्रंथ का वर्तमान रूप समग्र रूप म रचा जा चुका था।
८ इसके बाद की शताब्दियो म भी कुछ नगण्य से सशोधन, परिवद्धन होते रहे।
९ महाभारत की कोई एक तिथि नही है। पर उसके विभिन्न अगो की तिथि का निर्धारण किया जाना चाहिए।

भारतीय विद्वान भण्डारकर एव सुखथणकर महाभारत के दृष्टकूट होने का समथन करते हैं और यह मानते हैं कि कई परम्पराओ के जुडने से महाभारत का निमाण हुआ है। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य एक व्यास की सत्ता तो स्वीकार करते हैं पर यह नही मानते हैं कि वर्तमान महाभारत उन की रचना है। बाल गगाधर तिलक श्रीमदभगवदगीता पर लिखी हुई अपनी टीका म यह सिद्ध करते हैं कि महाभारत और श्रीमद्भगवदगीता अगागी भाव स स्थित है। परम्परा यह मानती है— जैसा कि पहले कहा जा चुका है—कि जाति स्मृति म सुरक्षित व्यास की रचना को ई०पू० तीसरी या चौथी शताब्दी म नैमिषारण्य म वतमान रूप मे सुनाया तब से इसम नगण्य परिवतन हुए। महाभारत के पूरे विन्यास को और उसके लक्ष्य को बिना समझे हुए तथा उसके काव्य पक्ष का महत्त्व अनदेखा करते हुए जो लोग महाभारत की मीमासा करते हैं व विटरनिटज जैसे निष्कष पर पहुँचेंगे ही। महाभारत की चीर-फाड और महाभारत के पाठ निधारण तथा उसके मूलरूप की तलाश ये सभी प्रयत्न महाभारत की प्राणवत्ता से अस्पृष्ट लोगो के ही द्वारा हुए हैं। यह मान भी लें कि महाभारत मौखिक परम्परा से लिखित परम्परा म रूपान्तरित हुआ इस कारण उसम परिवतन हुए हैं उससे महाभारत की एकता कैसे असिद्ध होती है ? महाभारत म कहीं मुख्य कथा और आख्यानो म पोष्य-पोषक भाव न हो, अन्तर्विरोध हो तो यह कहना उचित होगा कि इनम अनमेल जोड है। पर यदि अनुक्रमणी से लेकर स्वर्गारोहण पव तक एक बीजकथा का ही विस्तार है और उपकथाएँ उस बीज कथा का पल्लवित करती दीखती हैं तो इस रचना के पीछे एक मस्तिष्क काम कर रहा है यह मानना ही पडेगा। काव्य की गहराई म जाने पर यह भी मानना पडेगा कि इस ग्रन्थ म रामायण क रचनाकार वाल्मीकि की तरह व्यास की भी एक विचित्र प्रकार की सम्पृक्तता है। इसी सम्पृक्तता के कारण ही यह रचना कोरा इतिहास नहीं है न विश्वकोश है यह इतिहास-काव्य है। यह एक मानवीय नियति की विषमता की चिन्ता करने वाला महत्त्व का काव्य है। इसम यदि कुछ परिवद्धन या पुनरुक्ति है, तो वाचिक परम्परा

के द्वारा इसके प्रचलित होने के कारण। किन्तु यह भी सही है कि वाचिक परम्परा के ही कारण इसमें अन्विति भी सुरक्षित रही है। इसमें एक सूत्रता बिखरने नहीं पायी है क्योंकि समग्र ग्रंथ का पाठ या वाचन होना था और वाचक के ऊपर श्रोताओं की स्मृति का नियन्त्रण लगा रहता था। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने महाभारत का वैशिष्ट्य निरूपित करते हुए कहा है कि "व्यास जी का अभिप्राय केवल युद्धों का वर्णन ही नहीं है अपितु इस भौतिक जीवन की निस्सारता दिखला कर प्राणियों को मोक्ष के लिए उत्सुक बनाना है। इसीलिए महाभारत का मुख्य रस शान्त है, वीर तो अंगभूत है महाभारत के पात्रों में एक विचित्र सजीवता भरी हुई है। व्यास कर्मवादी आचार्य हैं। कर्म ही मनुष्य का सच्चा लक्षण है। कर्म से पराङ्मुख व्यक्ति मानव की पदवी से सदा वंचित रहता है।" महाभारत का यह वाक्य—

गुह्य ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि
नहिं मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्

(शान्ति पर्व १८०।१२)

यह इंगित करता है कि मानवता का उन्नायक तत्त्व पुरुषार्थ है, इसी को महाभारतकार ने प्राणिवाद कहा है। जगत् में जिन लोगों के पास हाथ है और हाथ से कर्म करने का उत्साह है उनके सब अर्थ सिद्ध होते हैं—

अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः।
अतीव स्पृह्ये तेषां येषां सन्तीह पाणयः॥

(शान्ति पर्व १८०।११)

भारतीय शास्त्रीय दृष्टि महाभारत के धर्म पर अधिक विलोमित हुई है और स्मृतियां, प्रबन्ध-ग्रन्थ महाभारत को प्रमाण मानते रहे हैं। काव्यशास्त्र के रचयिताओं में केवल आनन्दवर्धन का ध्यान महाभारत के काव्य पक्ष पर गया पर उन्होंने भी सिवाय इसके कि महाभारत का मुख्य रस शान्त है और महाभारत में प्रबन्धक ध्वनियों के उदाहरण मिलते हैं, महाभारत के काव्य-गठन की विशद मीमांसा प्रस्तुत नहीं की। महाभारत के वाचन की भी परम्परा भागवत के प्रादुर्भाव के बाद कम हो गयी। बाणभट्ट ने ईसा की सातवीं शताब्दी में महाभारत के वाचन की परम्परा का आदरपूर्वक उल्लेख किया है परन्तु मध्य युग में ऐसा लगता है कि श्रीमद्भागवत और रामकथा के पारायण और पाठ की परम्परा अधिक प्रबल रही। महाभारत और अन्य पुराणों के समग्र वाचन की परम्परा कुछ क्षीण हो गयी। कदाचित् इसीलिए महाभारत के अलग-अलग आख्यानों पर तो काव्य लिखे गये पर महाभारत का समग्र रूपान्तर

भारत में मध्य युग में भारतीय भाषाओं में नहीं हुआ। अधिकतर लोगों ने संक्षिप्त कथा ही आधुनिक भाषाओं में लिखी जैसे सबलसिंह चौहान ने हिन्दी में महाभारत लिखा। किन्तु जावा में 'भारत युद्ध' नाम की रचना समग्र महाभारत की कवि भाषा में प्रस्तुति के रूप में मध्य काल के आरम्भ में मिलती है। महाभारत के काव्य पक्ष पर पुनर्विचार उन्नीसवीं शताब्दी में शुरू हुआ जब उसका रमेशचन्द्र दत्त द्वारा अंग्रेजी में अनुवाद हुआ और उस पर रवीन्द्र नाथ ठाकुर, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, बाल गंगाधर तिलक, चिन्तामणि विनायक वैद्य, श्री अरविन्द जैसे विचारकों का ध्यान गया। तब से भारत में महाभारत के सर्जनात्मक महत्त्व का मूल्यांकन शुरू हुआ। इस मूल्यांकन में बल पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व के विश्लेषण तथा महाभारत के आध्यात्मिक संकेत के निरूपण पर या महाभारत के सामाजिक दर्शन के विश्लेषण पर रहा। काव्य की दृष्टि से ग्रन्थ के सौंदर्य का अध्ययन प्रकीर्ण शोध प्रबन्धों में टुकड़ा-टुकड़ा में किया जाता रहा। ग्रन्थ की एकान्विति पर समग्र दृष्टि से विचार मेरी जानकारी में शुद्ध साहित्य की दृष्टि से अब तक नहीं किया गया है। मैंने महाभारत मीमांसा की अद्यतन स्थिति पर जो संक्षेप में पर्यालोचन किया उसका उद्देश्य केवल अपने व्याख्यान की वह पृष्ठभूमि देना है जिसके कारण मेरे मन में असन्तोष बना रहा कि महाभारत के काव्यार्थ की मीमांसा नहीं हुई।

मेरे मन में यह बात बहुत दिनों से सालती रही है कि महाभारत के कवि को क्यों नहीं पहचाना गया? मैं महाभारत का पाठक अचानक बन गया। मेरे घर बचपन में इण्डियन प्रेस का हिन्दी महाभारत आया और आधा समझ आधा अनसमझे दस के सभी खण्ड पढ़ गया। तब बुद्धि एक दम अधकचरी थी। पर इस हिन्दी संस्करण के पढ़ने के पूर्व ही महाभारत की कहानी मुझे मेरे बाबा चार वर्ष की अवस्था में ही सुना चुके थे। उस की एक अपनी गहरी छाप थी ही। संस्कृत ग्रन्थों का अर्थ-ग्रहण करने की क्षमता आते ही मैंने कालेज के दिनों में ही महाभारत मूल में पढ़ना शुरू किया। संयोग से दिल्ली से हिन्दी अनुवाद के साथ कई खण्डों में एक संस्करण छपा। प्रति खण्ड उस का दाम दो रुपये था। यह भी हमारे घर आया और मुझे इसे आदि से अन्त तक पढ़ने का सुयोग मिला। जहाँ तक मुझे स्मरण है रामचन्द्र महारथी द्वारा सम्पादित था। उस के बाद मैंने महाभारत का पारायण अधिक परिपक्व होने पर आदि से अन्त तक दो-तीन बार किया। तब मन में यह संकल्प उगा कि मैं महाभारत के काव्य पक्ष का निरूपण करूँ। संयोग से वर्तमान निधि की १९८४ की हीरानन्द शास्त्री व्याख्यानमाला के लिए कोई उपयुक्त विद्वान् मिल नहीं रहा था तो 'द्रव्याभावे भगवान्' न्याय से मुझे पकड़ा गया और मैंने मूर्खतावश न केवल इसे स्वीकार किया इसके साथ ही महाभारत का काव्यार्थ यह विषय भी मैंने न

लिया। पर जब मैं व्याख्यान को लिपिबद्ध रूप तैयार करने बैठा तो मुझे अपनी असमर्थता और अज्ञता का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगा। विवशता ऐसी थी कि मुझे यह काम निश्चित अवधि के भीतर पूरा करना था। इसके लिए पुन महाभारत का पारायण करने बैठा तो महाभारत ग्रन्थ नहीं रह गया। वह दुर्लंघ्य महापारावार बन गया। मैं इसकी अनन्तता और गहराई में खो गया। जो भी लिखा वह एक खोयी हुई स्थिति में—उसमें कोई सचेष्ट प्रयत्न नहीं है।

महाभारत काव्य मेरे मानस में उस समय प्रश्न के रूप में नाचता था: इसका मुख्य रस शान्त है या करुण? और उस के इस द्वन्द्व के भीतर गुजरते हुए महाभारत का एक अतिक्रामी अर्थ प्रस्तुत हुआ कि मुख्य रस न शान्त है न करुण अपितु मुख्य रस एक अन्तय भाव है अद्भुत भाव है एक समन्वयात्मक भाव है। मन का करुणा के साथ समाधान है। इसी रूप में व्याख्यान लिखा गया। इस में न अलंकारों की चर्चा है, न पाँच अवस्थाओं की न सन्धियों की। संस्कृत काव्यशास्त्र की दृष्टि से निरूपण का कोई प्रयत्न ही नहीं है। भारतीय मानस की पहचान महाभारत में कितनी है, केवल यही जिज्ञासा व्याख्यान भर रात जिलाती रही। मैंने उचित यही समझा कि जिस रूप में यह लिखा गया है नादानी में ही सही, लाचारी में ही सही, उसे उसी रूप में जाने दिया जाय। इस विचार के पीछे एक दूसरा कारण भी था अपने श्रोताओं की सहृदयता का आदर। जिन प्रबुद्ध श्रोताओं ने दिल्ली में इसे सुना (उन श्रोताओं में हिन्दी के कवि, लेखक तो थे ही, संस्कृत एवं इतिहास के भी पण्डित थे) वे अपने सुने हुए रूप को पुनः देखना चाहेंगे, उसमें परिवर्तन करने से उनको शिकायत हो सकती है। मैं आदरणीय भाई श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन के प्रति खीझ भरी कृतज्ञता व्यक्त करना चाहता हूँ कि उन्होंने अयोग्य व्यक्ति की अयोग्यता का अनावरण कराने के लिए यह व्याख्यान मुझ से लिपिबद्ध कराया। पर जो भी हो, आंशिक रूप में ही सही, महाभारतकार के ऋण की (जिस में भारत का ही व्यक्ति नहीं, समझदार मनुष्य मात्र मेरा साझीदार है) निष्कृति या और ठीक कहें स्मृति मात्र इस बहाने हो गयी। मैं महाभारतकार के प्रति प्रणति और सहृदय श्रोताओं के प्रति आभार निवेदन करता हूँ।

वै० शु० ७/२०४२ —विद्यानिवास मिश्र

पहला अध्याय

सत्य चाऽमृत च

महाभारत का सत्य

महाभारत का महत्त्व अनेक दृष्टियों से आंका गया है। महाभारत-कथा के आधार पर भारत मे काव्य और शिल्प मे जो निरन्तर कलासृष्टि होती रही, उनका अध्ययन भी कम नही हुआ है, परन्तु स्वय महाभारत काव्य है, बडी जातीय प्रज्ञा का काव्य है, इतिहास और पुराण से गुंथा हुआ होने पर भी धर्म-दर्शन से सवलित होने पर भी काव्य है, इस दृष्टि से पर्यालोचन कम हुआ है। श्रीमन्मध्वाचार्य ने महाभारततात्पर्य-निर्णय लिखा और इस ग्रन्थ का मूल लक्ष्य वासुदेव-भक्ति प्रतिपादित किया। अद्वैत वेदान्त के रग मे सदानन्द यति ने महाभारततात्पर्य-प्रकाश लिखा और महाभारत का तात्पर्य अविद्या का नाश सिद्ध किया। नीलकण्ठ दीक्षित ने भारतभावदीप टीका लिखी, इस टीका के ऊपर भी अद्वैत सिद्धात का गहरा रग है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ध्वन्यालोक मे आनन्दवर्धन ने सकेत किया कि महाभारत शान्तरस-प्रधान प्रबन्ध काव्य है। आधुनिक युग मे महाभारत की भाषा, भाषा के उपादानो और उसके मिथो की आलोचना भी कुछ-कुछ हुई है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, चिन्तामणि वैद्य, अरविन्द सुखथणकर, राजगोपालाचारी, उमाशकर जोशी, इरावती कर्वे, भैरप्पा प्रभृति कवियो-विचारको ने महाभारत-मीमासा प्रस्तुत की है। इन सब का महत्त्व और ऋण स्वीकार करते हुए भी ऐसा लगता है कि महाभारत के काव्यार्थ पर बहुत कुछ कहा जा सकता है। मैं इसी अतृप्ति से प्रेरित हो कर महाभारत मे डुबकी लगाना चाहता हूं।

आदि से अन्त तक महाभारत पढ जाना अपूर्व अनुभव है। पुराने पडितो मे मान्यता है कि महाभारत को आदि से न पढ कर अन्त से पढना चाहिए अर्थात्

पहले शान्तिपर्व और उसके बाद के पर्व पढ़ कर आदि पर्व से स्त्रीपर्व तक आना चाहिए, नहीं तो मंगल नहीं होता। मुझे पूरा पढ़ लेने पर यह मान्यता सही लगती है। शान्तिपर्व से अध्ययन प्रारम्भ करने से महाभारत के सत्य के व्यापक स्वरूप का एक चौखटा मिलता है, उसमें पूरी पूर्ववर्ती घटना को रख कर देखने पर लड़ाई और झगड़े वाली बात छोटी हो जाती है। लड़ाई-झगड़े को और उसमें प्राप्त जय को महत्त्वपूर्ण मानना ही तो अमंगल है और अपने भीतर के तनावों पर विजय को जय मान कर छोटे और बड़े जय-पराजय का अर्थ समझना ही मंगल है।

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम् ।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥
(शा० प० १५४।३६)

वास्तविक अपराजयभाव महाभारत के अनुसार यह है कि सुख हो, दुःख हो, प्रिय हो, अप्रिय हो, जो मिले उसे सहज रूप में स्वीकार करो, कभी भी हृदय में पराजय न स्वीकार करो, न सुख से, न दुःख से, न अनुकूल से, न प्रतिकूल से।

अब प्रश्न यह उठता है कि ग्रन्थ का प्रारम्भ तब आदि पर्व से क्यों होता है, शान्तिपर्व से क्यों नहीं? इसका समाधान है। ग्रन्थ का प्रारम्भ तो अन्त से ही होता है, ग्रंथ के श्रोता हैं जनमेजय, महाभारत युद्ध से दो पीढ़ी आगे के राजा, एक प्रकार से महाभारत के वीरों के उत्तराधिकारी जो प्रतिशोध में सर्पयज्ञ करने का संकल्प लेते हैं, और प्रतिशोध की आग शान्त होने पर महाभारत कथा सुनने की पात्रता पाते हैं। श्रीमद्‌भागवत में भी यही क्रम है, श्रीकृष्ण लीला समेट के चले जाते हैं, उसके बाद भयंकर रिक्तता आती है, पर उस रिक्तता में ही परीक्षित् को तलाश रहती है उस रूप की जिसने गर्भ में रक्षा की ब्रह्मास्त्र से, वे चारों ओर उसे ही देखते रहते हैं। यकायक एक बार इनसे प्रमाद होता है और वही परीक्षित् शापग्रस्त होकर श्रीकृष्ण कथा सुनने के लिए पर्युत्सुक हो जाते हैं। शान्तिपर्व क्रम में बाद में आता है, सही, काव्य का वही सही क्रम है, परन्तु सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति के लिए वहाँ से प्रारम्भ करने पर महाभारत के सत्य को समझने की अधिक अच्छी मानसिक तैयारी हो जाती है। महाभारत में भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य चार-चार पर्व तो सीधे अठारह दिनों के युद्ध के वर्णन के हैं। उसके पूर्व का उद्योग पर्व भी युद्ध की तैयारी का है। उसका उत्तरवर्ती पर्व स्त्री-पर्व युद्ध की विनाशलीला के तीव्र अनुभव का है। श्लोक-संख्या भी इन पर्वों की कुछ मिला कर बहुत विपुल है, लगभग आधा से अधिक काव्य युद्ध में ही चला जाता है और इस पर भी दावा यह कि शान्ति-

पर्व से ही महाभारत का आरम्भ करें और फिर यहीं लौटें। साम ही इस ग्रन्थ का चरम तात्पर्य है, यह बात समझ में नहीं आती। महाभारत तो वीरगाथा है या इतिहास के पंडितों की शब्दावली का प्रयोग करें तो अनेक पूर्ववर्ती नाराशंसी गाथाओं को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न है या और अधिक स्थूलदर्शी हो कर बात करें तो *एक छोटी-सी क्षेत्रीय या क्षेत्रीय भी नहीं पारिवारिक* लड़ाई को कुछ बड़ी लड़ाई के रूप में दिखा कर इसे महत्त्व देने का प्रयत्न है। इस तर्क का (मैं इसे कुतर्क नहीं कहता) ठीक समाधान तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि हम महाभारत को एक सम्पूर्ण इकाई नहीं मानते और इस इकाई को सम्पूर्ण काव्य नहीं मानते। महाभारत अनेक शताब्दियों की रचना है, अनेक व्यक्तियों की या अनेक व्यासों की रचना है, इतना कहने से इस ग्रन्थ की (जिस रूप में यह उपलब्ध है) अन्विति की बात कट नहीं जाती, क्योंकि महाभारत वाचिक परम्परा के विकास की चरम परिणति है और यद्यपि इसके दक्षिणी-उत्तरी दो मुख्य और एकाध और संस्करण देश में मिलते हैं, परन्तु ये सभी संस्करण सहस्राब्दियों से भारतीय स्मृति में अखण्ड ग्रन्थ के रूप में समादृत हैं। महाभारत की वृक्ष के रूप में अवधारणा, इसके आदिपर्व में ही की गयी है, इसका दूसरा और क्या तात्पर्य हो सकता है, सिवाय इसके कि इसमें कोई भी वस्तु बाहर से नहीं जुड़ी है। मूल कथा में ही उपकथाओं के विकास की सम्भावना निहित है, काव्य-योजना का बीज वही रहता है जैसे पेड़ का तना वही रहता है, बड़ी डालें वही रहती हैं, टहनियाँ नयी होती जाती हैं, पत्ते और फूल नये होते जाते हैं और जब पेड़ में फल आ जाते हैं तो पेड़ का एक निश्चित आकार बन जाता है, ठीक वही बात महाभारत के साथ घटित हुई है और इसमें जो भी रूपान्तर हुए वे इसके फलवान् होने के पूर्व हुए। पर वे रूपान्तर जिनके द्वारा किये गये, वे स्वयं महाभारत कथा में ऐसे रमे हुए थे कि उनका सम्पूर्ण अस्तित्व महाभारतमय हो गया था। उनके अलग नाम नहीं हैं, वे महाभारत के मूल संकल्पयिता के संकल्प से जुड़े हुए हैं, वे रूपान्तर करते हैं तो वह रूपान्तर उनकी अकेले की सृष्टि नहीं है, यह उनके महाभारत-वाचन और महाभारत श्रोता समाज के साथ निरन्तर संवाद-स्थापन की सृष्टि है। वह समाज महाभारत की घटनाओं में चमत्कार की आशा से महाभारत नहीं सुनता रहा है। ये घटनाएँ तो उसे लोरी के साथ प्राप्त हुई होती हैं। वह समाज महाभारत सुनता है अपने बड़े संस्कार को नया करने के लिए, अपने को महाभारत, बड़े भारत की अस्मिता देने के लिए। महाभारत का श्रवण उसके लिए नया जन्म है, जिसमें व्यक्तिगत राग-द्वेष छँट जाते हैं, छोटे और बड़े धर्मों के बीच अन्तर स्पष्ट दिखने लगता है और *वास्तविक धर्म जड़ रूप से नहीं, क्रियाशील,* जीवन्त और गतिशील रूप में (आज की नयी शब्दावली का प्रयोग करें तो जुझारू

रूप मे) उद्भासित हो उठता है। भारतीय दृष्टि घटना को महत्त्व नहीं देती, घटना की परिणति को देती है और उस परिणति को देती है जो घटना के पात्रों को ही नही, घटना से सलग्न सहपात्रों को ही नही, उससे असलग्न, पर वैसी घटना की सम्भावना से सलग्न समुदाय या समुदायों को प्रभावित करती है। इस दृष्टि से महाभारत के निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं की पहचान, और महाभारत के बीज रूप की तलाश और क्षेपकों के अलग करने की कोशिश, ये सभी कार्य अप्रासगिक हैं। महाभारत जिस रूप में हमारे सामने है, वह जब रचा गया हो, जहाँ रचा गया है, उससे उसकी गुणवत्ता मे कोई फर्क नहीं पडता। वह इस रूप मे ही हमारी विशाल जातीय प्रज्ञा की ऐसी विलक्षण सृष्टि है कि निरन्तर वह नये-नये सदर्भों, परिवेशों में नयी होती रहती है।

महाभारत के काव्यार्थ की बात इसी बिन्दु से शुरू होती है, यह अन्य काव्यों से कुछ अलग है, और समानताओं के होते हुए आदि काव्य रामायण से भी अलग है। रामायण जिन मानवीय सम्बन्धों की गहराई में जाता है, वे सम्बन्ध व्यक्ति और व्यक्ति के बीच हैं वे व्यक्ति और व्यक्ति के बीच भी हैं, व्यक्ति और समाज के बीच भी। सबसे अधिक गाढ रूप मे वे एक ही व्यक्ति के भीतर एक साथ उद्वेलित दो या दो से अधिक धर्मों के बीच हैं। दूसरे शब्दों मे महाभारत सम्बन्धों के गुँथाव का और सम्बन्धों के अतिक्रमण का काव्य है। रामायण में प्रश्न उठाया जाता है "को न्वस्मिन् साम्प्रत लोके गुणवान कश्च वीर्यवान्"? कौन इस समय और यहाँ इस लोक में इस देश-काल में, गुणवान् और वीर्यवान है? इसके उत्तर म प्रत्य राम का अयन ऐसे गुणवान् चरित्र राम का स्थायी निवास बन जाता है। वहाँ मानवीय सम्बन्धो क निर्वाह के प्रतिमान हो जाते हैं राम और राम-कथा का जब नव रूपान्तर होता है तो साम्प्रत और श्रीमान् ताद के समकालीनता और समदेशीयता का दबाव क्रियाशील हो जाता है।

भवभूति की राम-कथा, तुलसी की राम-कथा, हिन्देशिया की राम-कथा, थाई रामकीर्ति और लाओ राम गाथा सभी मे यह दबाव सलक्षित है। वस्तु कुछ रूप बदलता है, पर राम सम्बन्धों, रिश्ता-नातों के केन्द्र मे बने रहते हैं। गांधी और कागभुशुडि राम की व्यापक महिमा से घबरा कर उनसे भागते हैं, आँख मूदते हैं तो उन्हें लाख-लाख देशो मे लाख-लाख परिवेशो मे लाख-लाख भिन्न-भिन्न समयो मे वही राम दिखते हैं, इसका अर्थ यही तो है कि राम सम्बन्धो के नाभिक केन्द्र हैं। वह शाश्वत सत्य है।

महाभारत का प्रारम्भ भिन्न प्रकार से होता है, एक लम्बे गीत से आरम्भ होता है। धृतराष्ट्र यह गीत गाते हैं, जिसमे प्रत्येक कडी शुरू होती है 'यदाश्रौषं' से—'जब से मैंने सुना है' और पाडवों के गुण या अभ्युदय या अपने पुत्रों के प्रमाद

या किसी दोष की चर्चा बीच में होती है। बड़ी के अन्त में यह पंक्ति आती है तदानाशंसे विजयाय संजय, 'तभी से, संजय मैंने विजय की आशा छोड़ दी।' इस पछतावे में पूरी कथा यथा क्रम आ जाती है।

महाभारत के निर्माण की बात बाद में आती है। इस पछतावे में प्रारम्भ करने का क्या अर्थ है इस पर जब हम विचार करते हैं तो हम महाभारत के प्रत्येक पर्व के मंगल श्लोक की सार्थकता पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
नत्वा सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत॥

जिसका सीधा सादा अर्थ तो बस इतना है—

नारायण को नर को और नरोत्तम को नमस्कार करके सरस्वती और व्यास की वन्दना करें तब जय ग्रन्थ का वाचन करें। टीकाकारों ने इस श्लोक की व्याख्या अनेक ढंग से की है। कुछ ने कहा कि नारायण, नर नरोत्तम वाक व्यास और जय यह सभी कुछ श्रीकृष्ण हैं वासुदेव हैं महाभारत या जय नामक इतिहास वासुदेव की ही वाङ्मय विग्रह है, व्यास स्वयं कृष्ण हैं नारायण, नर और नरोत्तम तीनों ही वासुदेव की तीन भूमिकाएँ हैं। सदानन्द यति ने व्याख्या की नारायण और नर तो परमात्मा और जीवात्मा रूप में दो स्थितियाँ हैं उन दोनों का अतिक्रमण करने वाली स्थिति नरोत्तम या पुरुषोत्तम की है जैसा कि स्वयं महाभारत के ही अंगभूत गीता में कहा गया है—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

नारायण नर हो कर विश्वात्मना समाहित व्यक्ति या योगीश्वर व्यक्ति हो कर इसलिए पुरुषोत्तम हैं कि वह लोक में अवस्थित हैं, लोक में अवस्थित रहते हुए वह लोकातीत अनुभव में अवस्थित हैं। सदानन्द यति व्याख्या को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि नारायण नर और नरोत्तम तत्त्वों को प्रणाम करने वाली वाग् विद्या सरस्वती का स्मरण करके ही उसके प्रति प्रणत हो कर ही, उससे व्याप्त हो कर ही अर्थात व्यास की तरह उसमें अभिभूत हो कर जय नामक विद्या या समस्त अविद्याओं के नाशक ससार जयी ग्रन्थ का उच्चारण करना चाहिए—

क्षरोपाधितया जीवो नर इत्यभिधीयते ।
अक्षरोपाधिको होशो नारायणपदाभिधः ॥
क्षराक्षराभ्यामुत्कृष्टो भगवान्पुरुषोत्तम ।
ज्ञेयो ध्येय समस्त्योत्र नरोत्तमपदाभिधः ॥
तद्द्योतिका गिर नत्वा ततो व्यास्तथव सन ।
ससारजयिन ग्रन्थ जयनामानमीरयत् ॥
(महाभारत-तात्पर्य प्रकाश, पृ० ३)

मेरी समझ म एक और सकेत इस श्लोक म मिलता है। सरस्वती नदी के किनारे ही महाभारत युद्ध हुआ सरस्वती किनारे ही व्यास ने बैठ कर ग्रन्थ की रचना की और स्वय नदी के द्वीप म उत्पन्न हुए। वह महाभारत की घटनाओ के केवल साक्षी ही नही उनम पूरी तरह सलग्न हैं। हां, सलग्न होते हुए भी वह कुछ कर नहा सकते। पूरा ग्रन्थ रच कर भी उन्हे लगता है कि कुछ नही होगा, कभी भी कुछ नही होगा यह अरण्यरुदन व्यर्थ जायगा।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित् शृणोति माम् ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥

धर्म से ही अर्थ अर्थवान है काम अर्थवान है, पर धर्म की अपेक्षा से अर्थ और काम म कोई प्रवृत्त होना, उलटे अर्थ और काम की अपेक्षा से धर्म म प्रवृत्त होता है। ऐसा व्यक्ति जब जय की बात करता है अपने ग्रन्थ को जय नाम देता है तो निश्चय ही वह जय न धृतराष्ट्र की विजय अवधारणा है, न केवल अविद्या का नाश है वह जय भयकर स भयकर स्थिति म हृदय का अपराजित भाव है। उसी भाव स प्रेरित हो कर कोई न सुने तो भी सुनाने का सकल्प पूरा होता है धर्म्ना प्रवाह को रोक न पाने की व्यथा झेलने वाले व्यक्ति का विवेक मुखरित होता है। ऐसा अँधेरा बार-बार आयेगा मूल्यो के सम्बन्ध म ऐसी धुन्ध बार-बार घेरेगी। प्रवाह मे एक क्षण खडे हो जाओ इसके दोनो किनारो पर ही दो वृक्ष हैं, एक जड सहित उखड गया है दूसरा एकदम निपात हो गया है पर उसके पोर-पोर म कुछ हरियाली पुराने घाव की तरह ताजा हो रही है। एक मन्यु का महावृक्ष है क्रोध-मात्र मद का वृक्ष है उसका नाम है—दुर्योधन, कर्ण उस वृक्ष का तना है, शकुनि शाखा, दुःशासन उसका समृद्ध पुष्प फल और अविवेकी राजा धृतराष्ट्र उस वृक्ष की जड है

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुम
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखा।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी॥

(आ० प० १।१०१)

दूसरा धर्म का महावृक्ष है, इसका नाम है युधिष्ठिर। अर्जुन इसके तना हैं, भीमसेन शाखा हैं, नकुल-सहदेव इसके पुष्प और फल और इसकी जड हैं कृष्ण, वेद (ज्ञानराशि) और ज्ञानी जन।

दोनों की तुलना करने से एक बात स्पष्ट है। दुर्योधन को अधर्म वृक्ष नहीं कहा गया है, वह मन्यु वृक्ष है, अर्थात् उसमें धर्म का अभाव नहीं है, बस उसका धर्म शुद्ध नहीं है, अनाविल नहीं है, वह अहंभाव से रंजित और आच्छादित है, जबकि युधिष्ठिर का धर्म अहंकारहीन है, शुद्ध है, उसमें कोई रंग नहीं, कोई आवरण या दुराव नहीं, उनके विरोधी भी उनकी सत्यनिष्ठा में कभी सन्देह नहीं करते। दूसरी बात यह भी स्पष्ट है कि दुर्योधन रूपी मन्युवृक्ष की जड बहुत कमजोर है। एक अन्धा पुत्र-मोहाविष्ट राजा क्या शक्ति देगा जब कि धर्मवृक्ष की जड ज्ञानी श्रीकृष्ण ही नहीं, उनके साथ उनके साक्षात् अनुभव में आया हुआ समस्त आतीय, समस्त अपौरुषेय ज्ञान है और उस ज्ञान के साझीदार समस्त ज्ञानी हैं, समस्त ब्रह्मवेत्ता हैं, विश्व की अखंडता के द्रष्टा हैं। व्यास पुकार लगाते हैं, उखड़े वृक्ष को देखो, खड़े वृक्ष को देखो, दोनों खड़े वृक्ष के अकेलेपन की पीडा को देखो, यह देखना ही जय है, यह देखना ही अपने से ऊपर उठ जाना है, अपने दायरों से ऊपर उठ जाना है। मेरी यह व्याख्या, हो सकता है, बहुत से रूढिवादियों को (रूढिवादियों से मेरा तात्पर्य पश्चिमी चिंतन की रूढियों से ग्रस्त लोगों से है) अतिशयोक्ति लगे, पर इस व्याख्या से यह बात ठीक तरह से समझ में आती है कि धृतराष्ट्र की विजयाशंसा, धृतराष्ट्र के मन में विजय का स्वरूप क्यों गलत है। और तब इस जय ग्रन्थ की यह शांति भी समझ में आ जाती है कि विद्या-अविद्या के स्तर पर सोचें या न सोचें, जीवन की मूल अपेक्षाओं के स्तर पर ही सोचें तो भी इसमें धर्म की जय दिखलाना उतना उद्दिष्ट नहीं, क्योंकि धर्म और जय तो साथ रहते ही हैं—यतो धर्मस्ततो जयः—वास्तविक धर्म और वास्तविक जय के स्वरूप को साकार करना ही उद्दिष्ट है। इसी से एक मोह में घिरे व्यक्ति के पछतावे से, उसकी लाचारी से, उसकी उदासी से बात शुरू की जाती है और इसका अन्त एक बड़ी उदासी और उस बड़ी उदासी से मिली हुई शान्ति में होता है।

कुछ लोगों के मत से महाभारत के केन्द्र में राम नहीं है, यह करुणबोध है,

क्योंकि शम में कोई उद्वेलन नहीं होता। शायद इसी लिए नाट्यशास्त्र इसमें अभिनय की गहरी सम्भावना नहीं पाता और जिन आठ रसों के नाम गिनाता है उनमें शान्त रस को स्थान नहीं देता। पर तात्त्विक दृष्टि से देखें तो शुद्ध अपना उद्वेलन तो शम में ही सम्भव है। किसी भी अन्य भाव में तो उद्वेलन किसी न किसी राग से उपहित चैतन्य का उद्वेलन होता है पर जब सुख-दुःख दोनों ही उपेक्षणीय हो जायें कुछ भी अनुकूल न रहे कुछ भी प्रतिकूल न रहे और मधु सब छूट जायें प्रीति वर सब शान्त हो जाय, तब जो उद्वेलन होना है कुत्ते जैसे एक उपेक्षणीय अपरिचित और संसार की दृष्टि में निकृष्ट प्राणी का बेसहारा या अबला न छोड़ने का भाव उपजता है जो एक निरपेक्ष करुणा उमगती है वही तो वास्तविक जीवन रस है वही सत्य रूपी अमृत है। महाभारत इसी अमृत का अनुसन्धान करता है यह समुद्रमन्थन की तरह अगाध हृदय मन्थन में देवी और आसुरी दोनों प्रकार की शक्तियों के प्रयत्न से निकलता है। महाभारत शान्त सत्य से सन्तुष्ट नहीं वह सनातन सत्य का अनुसन्धान करता रहता है। जब कभी इसके बड़े पात्र इस सत्य की पहचान नहीं कर पाते कोई न कोई छोटा पात्र किसी बहुत ही छोटी उपकथा का पात्र सत्य को पहचनवाता है। भीष्म द्रोण द्रौपदी के जुए के दाँव पर चढ़ाये जाने पर चुप रहते हैं दाँव हारने पर द्रौपदी के दासी के रूप में बुलाये जाने पर चुप रहते हैं। पर दुर्योधन का ही भाई विकर्ण उठ खड़ा होता है कहता है स्त्री सम्पत्ति नहीं है जो दाँव पर रखी जाय। पूरा जुआ ही गलत है। उसे जवाब मिलता है हाँ कभी ऐसी बात थी पर आज की व्यवस्था में स्त्री पुरुष की सम्पत्ति है। विकर्ण कहता है, यह व्यवस्था सनातन व्यवस्था नहीं है

> विब्रूत पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथंचन।
> मन्ये न्याय्यं यदत्राहं यद्धि वक्ष्यामि कौरव ॥
> चत्वार्याहुर्नृश्रेष्ठा व्यसनानि महीक्षिताम्।
> मृगयां पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिसक्तताम् ॥
> एषु न नरस्सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्तते
> तथायुक्तेन च कृतां क्रियां लोको न मन्यते।
> एतत्सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम् ॥
>
> (सभा पर्व द्यूत ६१।१६०५४)

एकाएक विकर्ण के मुख से ऐसी बात कहलाने के पीछे यही तो अभिप्राय है कि सत्य को ढकने की कितनी कोशिश करें वह ढका नहीं जा सकता एक असह्य नीय घटना अकिंचन से अकिंचन के भीतर ढके सत्य को अनढका करने का साहस

भर सकती है, क्योंकि वह सत्य सब में भीतर है । वह सत्य जीवन की अपरिहार्य शर्त है। इसे उलट कर भी वह सकते है, सत्य की अपरिहार्य शर्त है जीना, स्थ हो कर जीना, आत्म हो कर जीना, अपरावलम्बी हो कर, निरपेक्ष हो कर जीना।

शान्ति पर्व में भूख से व्याकुल विश्वामित्र की कहानी आती है । वह अकाल में अन्न की तलाश में एक झोपड़े में पहुँचते हैं । वहां कुत्ते के जाँघ का हिस्सा ताजा कटा रखा है, वह भूख के मारे उसे ले कर चलने का उद्यत होते हैं तो झोपड़े का मालिक चाण्डाल उन्हें धर्म-अधर्म की बहस में घसीटता है, कुत्ते का मांस अभक्ष्य है, क्यों अपने धर्म का नाश करते हैं और क्यों मेरे धर्म का ? विश्वामित्र ने उत्तर दिया, जिस किसी विशेष कर्म से समर्थ व्यक्ति मरने से जी उठे, वह कर्म करते हुए धर्म का आचरण करे, क्योंकि जीवन मरण से अधिक श्रेयस्कर है, जीवन जीते हुए ही तो धर्म प्राप्त किया जाता है । जैसा करने से जीवन निर्वाह हो, उसे अवज्ञा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए ।

येन येन विशेषेण कर्मणा येन केनचित् ।
अभ्युज्जीवेत्सीदमान: समर्थो धर्ममाचरेत् ॥
(शा० प० १४१।४३)
यथा यथैव जीवद्धि तत्कर्तव्यमहेलया ।
जीवितं मरणाछ्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात् ॥
(शा० प० १४१।६५)

चाण्डाल का निहित स्वार्थ उसे और मुखर धर्मवक्ता बनाता है, मैं आपको यह आपका अभक्ष्य पदार्थ कैसे दूँ, और कैसे तो अपने भोज्य की उपेक्षा करूँ, मैं तुम्हें यह देनेवाला और तुम इसे लेनेवाले दोनों पाप लोक में अवलिप्त होंगे—

नैवोत्सहे भवितो दातुमेना
नोपेक्षितुं ह्रियमाणं स्वमन्नम् ।
उभौ स्याव पापलोकावलिप्तौ
दाता चाहं ब्राह्मणस्त्वं प्रतीच्छन् ॥
(शा० प० १४१।८५)

विश्वामित्र ने कहा —मैं यह पाप कर लूँगा क्योंकि यह करके महापवित्र जीवन जी सकूँगा और पवित्र जीवन जीते हुए धर्म की पूर्ति कर लूँगा ।

जीवञ्चरिष्यामि महापवित्रम् ।

क्योंकि शम में कोई उद्वेलन नहीं होता। शायद इसी लिए नाट्यशास्त्र इसमें अभिनय की गहरी सम्भावना नहीं पाता और जिन आठ रसों के नाम गिनाता है उनमें शान्त रस को स्थान नहीं देता। पर तात्त्विक दृष्टि से देखें तो शब्द अपना उद्वेलन तो शम में ही सम्भव है। किसी भी अन्य भाव में तो उद्वेलन किसी न किसी राग से उपहित चैतन्य का उद्वेलन होता है पर जब सुख-दुख दोनों ही उपेक्षणीय हो जायें कुछ भी अनुकूल न रहे कुछ भी प्रतिकूल न रहे और प्रभु सब छूट जायें प्रीति वैर सब शान्त हो जाय तब जो उद्वेलन होता है कुछ जैसे एक उपेक्षणीय नपरिचित और संसार की दृष्टि में निकृष्ट प्राणी का बेसहारा या अपना न छोड़ने का भाव उपजता है जो एक निरपेक्ष करुणा उमड़ती है वही तो वास्तविक ... रस है वही सत्य रूपी अमृत है। महाभारत इसी अमृत का अनुसन्धान करता है यह समुद्रमन्थन की तरह अगाध हृदय मन्थन से दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की शक्तियों के प्रयत्न से निकलता है। महाभारत शाश्वत धर्म में सन्तुष्ट नहीं वह सनातन सत्य का अनुसन्धान करता रहता है। जब कभी इसके बड़े पात्र इस सत्य की पहचान नहीं कर पाते तो ... न कोई छोटा पात्र किसी बहुत ही छोटी उपकथा का पात्र सत्य का ... पहचानवाता है। भीष्म द्रोण द्रौपदी को जुए के दाँव पर चढ़ाये जाने पर चुप रहते हैं दाँव हारने पर द्रौपदी के दासी के रूप में बुलाये जाने पर चुप रहते हैं। पर दुर्योधन का ही भाई विकर्ण उठ खड़ा होता है कहता है स्त्री सम्पत्ति नहीं है जो दाँव पर रखी जाय। पूरा जुआ ही गलत है। उसे जवाब मिलता है हाँ कभी ऐसी बात थी पर आज की व्यवस्था में स्त्री पुरुष की सम्पत्ति है। विकर्ण कहता है यह व्यवस्था सनातन व्यवस्था नहीं है

> विब्रूत पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथंचन।
> मन्ये न्याय्यं यदत्राहं यद्धि वक्ष्यामि कौरव ॥
> चत्वार्याहुर्नृश्रेष्ठा व्यसनानि महीक्षिताम्।
> मृगयां पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिसक्तताम् ॥
> एषु ह नरस्सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्तते
> तथायुक्तेन च कृतां क्रियां लोको न मन्यते।
> एतत्सत्य विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम् ॥
>
> (सभा पर्व द्यूत ६१।१६०-२४)

एकाएक विकर्ण के मुख से ऐसी बात कहलाने के पीछे यही तो अभिप्राय है कि सत्य को ढकने की कितनी कोशिश करें वह ढका नहीं जा सकता एक असह नीय घटना अकिंचन से अकिंचन के भीतर ढके सत्य को अनावरण का साहस

भर सकती है क्योंकि वह सत्य सब के भीतर है। वह सत्य जीवन की अपरिहार्य गत है। इसे उलट कर भी वह सकत हैं सत्य की अपरिहार्य गत है जीना स्व हो कर जीना आत्म हो कर जीना अपरावलम्बी हो कर निरपेक्ष हो कर जीना।

शान्ति पर्व में भूख से व्याकुल विश्वामित्र की कहानी आती है। वह अकाल में अन्न की तलाश म एक झोपड म पहुँचते हैं। वहा कुत्त के जाध का हिस्सा बाजा कटा रखा है वह भूख के मारे उसे ले कर चलने का उद्यत होते हैं तो झोपड का मालिक चाण्डाल उन्हें धर्म अधर्म की बहस म घसीटता है कुत्त का मास अभक्ष्य है क्यो अपन धर्म का नाश करत ह और क्यों मेरे धर्म का? विश्वामित्र ने उत्तर दिया जिस किसी विशेष कर्म से समर्थ व्यक्ति मरने से जा उठ वह कर्म करते हुए धर्म का आचरण करे क्योंकि जीवन मरण से अधिक श्रेयस्कर है जीवन जीत हुए हा तो धर्म प्राप्त किया जाता है। जसा करने से जीवन निर्वाह हो उसे अवज्ञा की दृष्टि स नहा देखना चाहिए।

येन येन विशेषेण कर्मणा येन केनचित ।
अभ्युज्जीवेत्सीदमान समर्थो धर्ममाचरेत ॥
(शा० प० १४१।४३)
यथा यथव जीवद्धि तत्कर्तव्यमहेलया ।
जीवित मरणाछ्रे यो जीवन धर्ममवाप्नुयात ॥
(शा० प० १४१।६५)

चाण्डाल का निहित स्वार्थ उसे और मुखर धर्मवक्ता बनाता है मैं आपको यह आपका अभक्ष्य पदार्थ कैसे दू और कैसे तो अपने भोज्य की अपेक्षा करूँ, मैं तुम्ह यह देनेवाला और तुम इसे लेनेवाले दोनो पाप लोक म अवलिप्त होंगे—

नैवोत्सहे भवितो दातुमेना
नोपेक्षितु ह्रियमाण स्वमन्नम ।
उभौ स्याव पापलोकावलिप्तौ
दाता चाह ब्राह्मणस्त्व प्रतीच्छन ॥
(शा० प० १४१।८५)

विश्वामित्र ने कहा—मैं यह पाप कर लूगा क्योंकि यह करके महापवित्र जीवन जी सकूगा और पवित्र जीवन जीते हुए धर्म की पूर्ति कर लूगा।

जीवन्चरिष्यामि महापवित्रम ।

अन्तत चाण्डाल ने कुत्ते का मास दिया। विश्वामित्र ने वह मास अकेले नही खाया, उसे यथानियम सबमे बाँटने बैठे—देवताओ मे, पितरो मे, सर्वभूतो मे और इतने मे वृष्टि शुरू हो गयी। पूरे देश का अकाल चला गया। युधिष्ठिर घबरा उठे यह कहानी सुन कर, क्या ऐसा अश्रद्धेय, ऐसा घोर, ऐसा अनृत धर्म करके भी पवित्र रहा जा सकता है ? भीष्म ने फिर समाधान किया। एकागी शास्त्र से धर्म का निश्चय नही होता, न दुर्बल चित्त से होना है।

नैकशास्त्रेण धर्मेण राज्ञा धर्मो विधीयते।
दुर्बलस्य कुत प्रज्ञा पुरस्तादनुपाहृता॥
(शा० प० १४२।७)

समस्त शास्त्रो के बडे गहरे अनुध्यान से ही धम की प्रज्ञा आती है।

इस प्रकार जीवन की पवित्रता ही महाभारत के महात्मय की पीठिका है और उसकी एक ही कसौटी है, आनृशस्य, नृशस न होने का भाव, अपने भीतर के नरत्व का अपघात न करने का भाव, अर्थात् अपने भीतर नारायण के साथ विश्वासघात न करने का भाव। महाभारत मे अहिंसा शब्द या करुणा शब्द का प्रयोग कई स्थानो पर मिलता है, सामान्य धर्मों की परिगणना मे अहिंसा भूतानुकम्पा जैसे शब्द भी मिलते हैं, पर जब-जब सत्यवादी युधिष्ठिर की परीक्षा होती है, उनके सत्यनिष्ठ धर्म की परीक्षा होनी है, तब-तब आनृशस्य शब्द ही प्रयुक्त होता है, इसी से मैं इसे महाभारत का एक केन्द्रभूत शब्द मानता हूँ।

पहली बार युधिष्ठिर की परीक्षा होती है, चारो भाई यक्ष का उत्तर न दे कर अभिशप्त जल पी कर निष्प्राण हो जाते हैं। युधिष्ठिर अपने उत्तर से सन्तुष्ट कर देते हैं तो यक्ष उनसे कहता है, तुम किस भाई को जीवित देखना चाहोगे, मैं एक को प्राणदान दे सकता हूँ, युधिष्ठिर नि सकोच कहते हैं, मेरी विमाता माद्री के छोटे लडके सहदेव को जिला दें। यक्ष के बार-बार कहने पर भी वह अपने सहोदर भाइयो मे से किसी की प्राण-रक्षा की बात नही सोचते। केवल यही कहते रहते हैं, आनृशस्य परो धर्म, मेरे भीतर का मानुष भाव मर जायेगा, यदि मैं पहले दिवगत विमाता के प्रति अपने दायित्व को भूल जाऊँगा।

युधिष्ठिर की दूसरी परीक्षा होती है, चैत्ररथ गधर्व ने कौरवो को बाँध कर रखा है उनका वध करना चाहता है। युधिष्ठिर सुनते हैं और भाइयो से कहते हैं, जाओ, उन्हें छुडा दो, भाई इस बात को नही समझ पाते। युधिष्ठिर कहते हैं, हमे अपने प्रति किये गये अन्याय का प्रतिकार स्वय लेना उचित है, यह कायरता होगी, यह नृशसता होगी कि चैत्ररथ के हाथो उनका वध करा दें, क्योकि वे हम ही तो हैं—वय पचाधिक शतम्, पाँच और सौ मिल कर ही तो हम होते हैं।

युधिष्ठिर की दुर्बलता की बात बहुत की जाती है, जिन लोगों के मन में महाभारत का एकांगी चित्र है, वे दुर्योधन और कर्ण के लिए बहुत व्याकुल हो जाते हैं और श्रीकृष्ण को छली, युधिष्ठिर को छलजीवी भी कहने लगते हैं। पर वे इस प्रसंग की उपेक्षा कर जाते हैं। युधिष्ठिर कौरवों का नाश चाहते तो यह अवसर क्यों खोते ? विराट के नगर में भी कौरव परास्त होते हैं, वन में तप का जीवन व्यतीत करने वाले पाँच वीरों के तेज के आगे वे सभी आहत हो कर मरते-मरते को होते हैं। युधिष्ठिर तब भी सोचते हैं, हम अज्ञातवास में हैं, ये आक्रामक हैं सही, इस समय, पर आक्रमण विराट पर है, हम विराट और उनकी गौवों की रक्षामात्र के उत्तरदायी हैं। हम इनसे पाण्डव के रूप में खुले तौर से निबटें, यही ठीक होगा। वे नाश नहीं चाहते और यदि कौरवों का नाश अन्याय के प्रतिकार में हो जाता है तो युधिष्ठिर की युद्ध लिप्सा से नहीं। यह अवश्य है, वह अर्जुन की तरह युद्ध के पूर्व व्यामोह में नहीं पड़ते क्योंकि युद्ध उनके बावजूद उपस्थित हो गया है, उसमें वह स्थिर रहते हैं। युद्ध समाप्त हो जाता है और युधिष्ठिर को विषाद होता है, मैं अपने स्वजनों के रक्त से दिग्ध अन्न कैसे ग्रहण करूँ, किसके साथ यह राज्य भोगूँ, जिनके साथ भोगना था वे चले गये। युधिष्ठिर के मन की व्यथा एक बहुत बड़े मन की व्यथा है, उसकी चर्चा आगे होगी। अभी तो इतना ही प्रासंगिक है कि युधिष्ठिर की जीत जीत नहीं लगती, हार लगती है। चारों भाई उन्हें समझाते हैं, द्रौपदी समझाती है, व्यास स्वयं समझाते हैं, नारद समझाते हैं, तब जाकर राज्याभिषेक स्वीकार करते हैं पर तब भी उनके मन में कहीं कलंक है और तब श्रीकृष्ण उन्हें भीष्म के पास ले जाते हैं, युधिष्ठिर को उपदेश स्वयं न दे कर भीष्म से दिलवाते हैं, उस भीष्म से दिलवाते हैं जो युधिष्ठिर के पितामह हैं, जो युधिष्ठिर की सेना का आधा से अधिक भाग युद्ध में नष्ट कर चुके हैं, जो बाणों की शय्या पर पड़े हुए हैं, जो पिता को केवल इतना ही वचन नहीं देते कि मैं राज्य का अधिकार नहीं लूँगा, वचन देते हैं कि मैं विवाह ही नहीं करूँगा, मेरे बच्चे न होंगे, मेरे कारण या मेरी सन्तान के कारण कोई विवाद कभी नहीं खड़ा होगा। इतनी भीष्म-प्रतिज्ञा के कारण ही उनका नाम भीष्म पड़ जाता है। पिता का दिया हुआ नाम देवव्रत एकदम विस्मृत हो जाता है वह दुर्योधन के अन्न से पलते हैं, बहुत-सी अनीति उनके सामने होती है, चुप रहते हैं, अर्थ के दास बने रहते हैं और भीतर-भीतर चिरते रहते हैं। श्रीकृष्ण भीष्म की बाहरी-भीतरी सारी वेदना हर लेते हैं और उनसे युधिष्ठिर को उपदेश देने के लिए कहते हैं, क्योंकि वह जानते हैं युधिष्ठिर जैसे व्यक्ति को उपदेश वही दे सकता है जो शरशय्या पर मृत्यु की शान्त भाव से प्रतीक्षा कर रहा हो, अन्तिम क्षण तक जी रहा हो। भीष्म ने कहा कि आप स्वयं क्यों नहीं उपदेश देते ? श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं,

चन्द्रमा की किरणें शीतल हैं, इस पर किसी को क्या विस्मय होगा! मैं यश और श्रेय का मूल हूं, मुझ से ही सभी भाव—सद् हो या असद्—अभिनिवृत्त होते हैं, उद्भूत होते हैं, मैं तुम में अपनी विपुला बुद्धि अर्पित करता हूं, जिससे तुम्हारी बात हो कर लोक में धर्म फैले और तुम्हारी बात युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में उठ कर फैले। और लोक में यह बात ऐसे फैले जैसे कि यह वेद हो। धर्मसाधक मनुष्य के प्रश्न के धर्मसाधक मनुष्य द्वारा दिये गये उत्तर के रूप में धर्म प्रसृत हो, मैं यह चाहता हूं। (शा० प० ५४)

भीष्म ने तब युधिष्ठिर की प्रशंसा करते हुए आमन्त्रण दिया। जो समस्त यशस्वी धर्माचरण करने वाले कौरवों में अद्वितीय है, वह मुझ से धर्म की बात पूछ ले। जो सत्य-नित्य है, क्षमा नित्य है, ज्ञान-नित्य है, अतिथि-प्रिय है जो नित्य सत् ही देता है, वह मुझसे धर्म की बात पूछ ले—

> सर्वेषां दीप्तयशसा कुरूणा धर्मचारिणाम्।
> यस्य नास्ति सम कश्चित स मे पृच्छतु पाण्डव ॥
> सत्यनित्य क्षमानित्यो ज्ञाननित्योतिथिप्रिय ।
> यो ददाति सतां नित्य स मे पृच्छतु पाण्डव ॥
>
> (शा० प० ५५)

युधिष्ठिर भीष्म से राजधर्म, समस्त वर्णों और आश्रमों के धर्म, सामान्य धर्म, विशेष धर्म और मोक्ष धर्म के बारे में तरह-तरह के प्रश्न करते हैं, वे सभी प्रश्न छेड़ते हैं जो उनके भीतर छिड़ते रहे हैं और जिनके छिड़ते रहने से ही युधिष्ठिर निरन्तर कसौटी पर अपने को कसते रहे हैं। ऐसे धर्मात्मा युधिष्ठिर की अन्तिम परीक्षा होती है स्वर्गारोहण पर्व में, जब उनसे कहा जाता है कि आप मनुष्य शरीर से दिव्य लोक में प्रवेश करें। वह आग्रह करते हैं, मैं अकेले कैसे प्रवेश करूं, मेरे पीछे-पीछे यह कुत्ता आया है, उसको भी प्रवेश मिले तो मैं प्रवेश करूं, युधिष्ठिर किसी भी प्रकार अपने आग्रह से विचलित नहीं होते, इतने में कुत्ता गायब हो जाता है, धर्मराज कहते हैं, यह तुम्हारी अन्तिम परीक्षा थी, तुम में कितना आनृशंस्य भाव है, कितना मानुष भाव है। तुम परीक्षा में खरे उतरे। वह कुत्ता तो मैं था, वह यक्ष भी मैं था, तुम भी मेरी ही आत्मा हो, धर्म ही धर्म की वास्तविक परीक्षा लेता है।

मैंने इसीलिए महाभारत की यह प्रतिज्ञा पहले दुहरायी थी कि इसका सत्य अमृत है, यह कभी मरता नहीं, यह हमेशा जीवित रहता है, यह परीक्षित होता है, यह सचित होता है, यह क्लिष्ट होता है, पर मरता नहीं। यह ऋत रूप है, गति रूप है, स्थिति रूप नहीं है, यह चरिष्णु है क्योंकि 'कृत सम्पद्यते चरन्' क्योंकि

कृतयुग या सत्ययुग तो चलते रहने वाले का नाम है। इस सत्य का विरोध असत्य से नहीं, अनृत से है, क्योंकि सत्य का अभाव कहीं है ही नहीं, असत्य की अपने आप कोई सत्ता ही नहीं है। असत्य सापेक्ष सत्ता है। सत्य स्थित हो जाय, सचाई जड़ हो जाय, जीवन की गति से विलग हो जाय, धार से किनारे हो जाय तो असत्य को अवसर मिल जाता है। सम्पूर्ण विश्व और सम्पूर्ण विश्व की चिति ग्रस्त है और अनृत अन्धकार है, अधर्म है, दुःख है, निरय है, अगति है।

सत्य ब्रह्म तप सत्य सत्य विसृजते प्रजा ।
सत्येन धार्यते लोक स्वर्गं सत्येन गच्छति ।
अनृत तमसो रूप तमसा नीयते ह्यध ।
तमोग्रस्ता न पश्यन्ति प्रकाश तमसावृता ॥
(शा० प० १९०।१-२)

सत्य की सम्पूर्णता का श्वास-श्वास मे अनुभव होता रहता है। जब सत्य-ऋत मे द्वन्द्व नही होता, पर जब वह ऋत का विरोधी हो जाता है, जीवन-यात्रा का प्रतिबन्धक हो जाता है तब सत्य अनृत नही रह जाता, अमृत नही रह जाता, वह हेय हो जाता है, त्याज्य हो जाता है। विकर्ण ने जो नारी के स्वत्व की माँग की, वह अमृत सत्य की, ऋत सत्य की माँग थी, विजड़ित व्यवस्था के त्याग की, अनृत के त्याग की, झूठ के त्याग की माँग थी।

इस ऋत सत्य को महाभारतकार ने धर्म माना, इसीलिए इस पर बल दिया कि धर्म केवल परिपाठ से, आम्नाय से, ग्रन्थ से नही जाना जा सकता—

न शक्य परिपाठेन शक्यो भारत वेदितुम् ।
(शा० प० २६१।३)

साधारण स्थिति का धर्म अलग है, आपात्काल का धर्म अलग है और आपदाये अनन्त हैं, धर्म को ग्रन्थ मे कैसे बाँधा जा सकता है।

अन्यो धर्म समस्थस्य विषमस्थस्य चापर ।
आपदस्तु कथ शक्या परिपाठेन वेदितुम ॥
(शा० प० २६१।१४)

धर्म की इस अलक्ष्य सूक्ष्मता मे प्रमाण बच जाता है सदाचार, सत्य का आचरण, सत्य की व्यापकता की आचरण की परीक्षा। वह परीक्षा इस प्रकार होती है, तुम किसी से डर कर या भययुक्त हो कर कुछ कर रहो और तुममे कोई डर कर

या भययुक्त हो कर जुड़ा हुआ है, तुम जो कर रहे हो वह लोक यात्रा का निर्वाहक है या नहीं, सर्वभूतहित का साधक है या नहीं

> यदा चाय न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
> यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
> यदा न कुरुते पाप सर्वभूतेषु पापक ।
> कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
>
> (शा० प० २६२।१५-१६)

सत्य का साहस ही तुलाधार वैश्य से यह कहला सकता है कि यह जो अच्छा माना जाता है, यह दो, यह दो, इसी से स्तैन्य या चोरी की वृत्ति जगती है, इसी से विकर्म, विपरीत कर्म प्रादुर्भूत होते हैं। दान-दक्षिणा की प्रशसा मे एक खोट है।

> इद देयमिद देयमिति वाय प्रशस्यते ।
> अत स्तैन्य भवति विकर्माणि चाजाजले ॥
>
> (शा० प० २६३।७)

वस्तुत देना हो तो दाता न रहे, यज्ञ करना हो तो कर्ता न रहे, केवल दान रहे, केवल कर्त्तव्य रहे। ब्रह्म ही देना है ब्रह्म ही दान है, ब्रह्म ही ग्रहीता है, यह भाव ही श्रद्धा है, यही चरम नैतिकता है, शुचिता भी तभी शुचिता है जब वह श्रद्धा से सयुक्त हो—

> कि तस्य तपसा कार्य कि वृत्तेन किमात्मना ।
> श्रद्धामयोऽय पुरुषो यो यच्छ्रद्ध स एव स ॥
>
> (शा० प० २६४।१६)

पुरुष उतना ही पुरुष है जितना श्रद्धामय है और श्रद्धा का अर्थ ही है वाक्, मन और बाह्य कर्म का एक होना, क्योकि श्रद्धा सूर्य की पुत्री है, वह सावित्री भी है, प्रसवित्री भी है, सृष्टि रचती है, सृष्टि रचाती है और सृष्टि को सुलझाती भी है। कोरा धर्म, कोरा यज्ञ, कोरा तप, कोरी अहिंसा, ये सब श्रद्धा को मारती हैं और तब मरी श्रद्धा नर को मारती है।

महाभारत मे अनेक स्थल हैं जहाँ छोटे धर्म और बड़े धर्म के निर्णय का प्रश्न उठता है और इन अनेक स्थलो मे बड़े धर्म की पहचान बड़े सुचिन्तित और गहरे विवेक से की गयी है। एक कथा आती है। गौतम ने अपने पुत्र चिर-

कारी से कहा कि तुम्हारी माँ ने धर्म का अतिक्रमण किया है, इसका वध कर डालो और स्वयं वन मे जप-ध्यान करने चले गये। चिरकारी चिरकाल तक विमर्श करने वाले प्राणी थे, सोचने लगे, पिता की आज्ञा का पालन पुत्र का धर्म है, माता की रक्षा स्व का धर्म है, मैं पुत्र के रूप मे धर्म का पालन करूं या स्व के रूप मे (पितुराज्ञा परो धर्म स्वधर्मो मातृरक्षणम्) और निर्णय लेते हैं कि भर्त्ता तब तक भर्त्ता है, जब तक भरण करता है, पति तब तक पति है जब तक रक्षा करता है, उसकी दोनों भूमिकाएं न रहें तो कैसा भर्त्ता, कैसा पति (भरणाद्धि स्त्रियो भर्त्ता पात्या चैव स्त्रिय पति । गुणस्यास्य निवृत्तौ तु न भर्त्ता न पुन पति) । स्त्री का कोई अपराध नहीं होता, पुरुष ही अपराधी है, क्योंकि वही प्रथम प्रवर्त्तक है। इस बीच गौतम ने भी एकाग्र चित्त से सोचा तो लगा कि क्रोध मे मृत्यु का आदेश देना उचित नहीं हुआ। वह भागे-भागे आये, देखा पत्नी जीवित है। उन्होंने चिरकारी को आशीर्वाद दिया कि सामाजिक जीवन मे उद्वेग या शीघ्रता मे निर्णय लेना ठीक नहीं होता, मनुष्य को गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिए कि वस्तुत यह राग उचित है, यह दर्प उचित है, यह मान उचित है यह द्रोह उचित है, यह सचमुच पाप है, यह अप्रिय होते हुए भी कर्त्तव्य है या नहीं, विशेषकर के बन्धुओ, मित्रो, भृत्यो और स्त्रियो के ऐसे अपराध के बारे में निर्णय करते समय जो स्पष्ट रूप से प्रमाणित नहीं हैं, बहुत विचार-विमर्श करना चाहिए।

> रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि ।
> अप्रिये चैव कर्त्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते ॥
> बन्धूना सुहृदा चैव भृत्याना स्त्रीजनस्य च ।
> अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते ॥

(शा० प० २६६)

धर्म का स्वरूप ही चिर है, वह धीरे-धीरे चलता रहता है, दौडता नहीं, भागता नहीं, पर जांचते चलता है, इसलिए उससे तात्कालिक अभ्युदय नहीं होता, उसमे कोई चमत्कारी बात नहीं होती, अपने परिजन भी धर्म का आचरण करने वाले से खीझते रहते हैं। धर्म धैर्य देता है तो अकेलापन भी देता है, युधिष्ठिर इसके सबसे बडे प्रतिमान हैं, परन्तु धर्म आश्वासन है, सचरणशील छाया है बादल की, नष्ट नहीं होंगे। अधर्म से अभ्युदय होगा, शत्रु और शीघ्र परास्त होंगे, दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होगी, पर नाश होगा तो समूल नाश होगा—

> अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
> तत सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥

धर्म मृत्यु नहीं है क्योंकि वह सत्य से निरन्तर शोधित होता रहता है, ऋत से, अमृत से निरन्तर सिंचता रहता है और वह सत्य से अनृत पर विजय प्राप्त की जाती है (सत्येनैवानृतं जयेत्), सत्य ऋत में रहता है, और अमृत सत्य में। यह पहचान कि इसी शरीर में मृत्यु है, इसी में अमृत है, सत्य की सही पहचान है।

> अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।
> मृत्युरापद्यते मोहात्सत्येनापद्यतेऽमृतम्॥
>
> (शा० प० २७८।२९-३०)

इस सत्य के ही द्वारा विरुद्ध दिखने वाले धर्मों में अविरोध देखा जा सकता है, क्योंकि सत्य यही है कि विरोध नहीं है, केवल तारतम्य है, तर और तम श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम का अन्तर है और वैसे तो श्रेष्ठतर तथा श्रेष्ठतम दोनों की कसौटी लोकयात्रा है, पर श्रेष्ठतम का निर्णय लेते समय अपने को एकदम छाँटकर अलग कर देना होता है, सबकी ओर से सोचना पड़ता है और तब विकल्प नहीं रह जाता। तब एक ही बचता है, वही अद्वितीय धर्म है।

श्रीकृष्ण इस अद्वितीय धर्म-द्रुम की जड़ हैं, यह कहने का विशेष तात्पर्य है, श्रीकृष्ण ने 'प्राणमभिनमसि' (तुम्हारे प्राण चिर रहे हैं) की धारणा की थी। वह योगेश्वर थे, वह पृथ्वी रूप मधु के आस्वादक थे, वह सबमय थे, वह समस्त भूतों में रहने वाले वासुदेव थे, वह सबका आकृष्ट करने वाले, सबको जनने वाले, सबको उत्साहित बनाने वाले, सबको भावित करने वाले और सब आवरणों को, छलावा, दुरावा को हटाने वाले थे, इसीलिए कृष्ण थे। कृष् का अर्थ भू या होना है, जोतना है, खींचना है, ण का अर्थ निर्वृत्ति है, आवरण को हटाया जाना है। श्रीकृष्ण सबसमाधिभाव से ही रस पा कर युधिष्ठिर रूपी धर्मद्रुम बढ़ता है और इसी से इसे पा कर महाभारत भी बढ़ता है। श्रीकृष्ण महाभारत के नायक नहीं हैं, सचालक भी नहीं हैं, वह इसके मुख्य पात्र नहीं हैं, तो भी वह समस्त महाभारत पर छाये हुए हैं, कभी विराट बन कर कभी बहुत लघु बन कर, कभी मनुष्यों में सबसे पूजनीय बन कर, कभी अतिथियों की जूठी पत्तल बटोरने का सबसे हीन माना जाने वाला काम अपने जिम्मे लेकर, कभी महाभय बन कर कभी अभय बन कर, महाभारत के कठिन प्रसंगों में विपत्तियों में वह उपस्थित हो जाते हैं, फिर यकायक वहाँ से खिसक जाते हैं। वह नर की भूमिका में बस इतना ही हस्तक्षेप करते हैं कि वह नरत्व का भाव न भूले, नर की इस चिन्ता के कारण ही वह नरोत्तम हैं। ऐसे श्रीकृष्ण महाभारत में भीतरी सत्य हैं। वह किसी के साथ नहीं हैं और सब के साथ हैं, युद्ध में वह विचित्र प्रकार से सम्मिलित हैं, निरस्त्र स्वयं अर्जुन के सारथि बन कर पाण्डवों के साथ और अपनी सम्पूर्ण सेना

दुर्योधन को दे कर शस्त्रबल की महायता के द्वारा कौरवों के साथ। इतने बड़े जन-नाश के बाद, जन-नाश ही नहीं स्वजन-नाश के बाद, वह अनुद्विग्न रहते हैं क्योंकि उन्हें सब की चिन्ता है, कुछ की नहीं। सब के हित में कुछ का मद झड़ जाय तो झड़ जाय, अपने सगे से सगे लोगों को दुःख हो, हो, अर्जुन जैसे अर्पित भक्त दस्युओं के आगे अनुभाव होकर लुट जायें तो लुट जायें, कोई बात नहीं, पर वह रह जाय जिससे जीवन चलता है। नरों के भीतर लहराते हुए भावसागर में नारायण सोते रहते हैं, उन्हें जगाने वाला नरोत्तम भाव रह जायें, मरय न मरने पाये, धर्म का बीज न नष्ट होने पाये। बस, उन्हें इसी बात की चिन्ता अपनी लीला के संवरण के क्षण में रहती है। इसी से उद्धव को वह बदरिकाश्रम भेज देते हैं—वहाँ से वासुदेव भाव प्रसृत हो गंगा की धारा की तरह। भीष्म ने इसी लिए श्रीकृष्ण की स्तुति इन शब्दों में की कि 'सब जिसमें है, सब जिससे है, जो सब है, और जो सब ओर है, जो सबमें है उन सर्वात्मा को नमस्कार करता हूँ।

> यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
> यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥

संजय ने माना है कि केशव ही कालचक्र, जगच्चक्र, और युग चक्र को आत्म-योग से परिवर्तित करते रहते हैं

> कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः ।
> आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम् ॥

(उ० प०)

धृतराष्ट्र ने भी एक क्षण को ही सही यह पहचाना कि श्रीकृष्ण सनातनतम ऋषि हैं, वाक् के समुद्र (वाचा समुद्र) हैं और मतियों के पूर्ण कलश हैं। सब उन्हें कभी न कभी पहचानते हैं क्योंकि वह सब में स्फुरित हैं। सचाई सबको कभी न कभी दिखती है, कोई देख कर सचाई ग्रहण करने का यत्न करता है और कोई उसको देख कर, पहचान कर उस का तिरस्कार, उस की उपेक्षा करता है। वह उपेक्षा की उपेक्षा करते हैं, आदर की भी अपेक्षा करते हैं, केवल पहचान की अपेक्षा करते हैं।

व्यास देव का महाभारत वासुदेव भाव, सात्वत भाव, कृष्ण भाव, निठुर और करुण भाव की पहचान का काव्य है, इसीलिए कोई इस भाव को जो चाहे नाम दे, अवतारवाद माने, न माने, इस भाव के सनातन प्रवाह से अपने को हमेशा किनारे नहीं रख सकता। कभी न कभी उसे अवदशा होती ही है कि इस भाव में डूबे, इसमें तिरे, इसके साथ चले। यह भाव बन चर मानुष सही

क्यों मे मानुष बनने का सकल्प ले सकें, न देव बनें, न असुर—दोनो स्वय मानुष भाव के अपेक्षी हैं। न मानुषात्तरतर किंचिदस्ति, का अर्थ यह नही है कि मनुष्य सबसे श्रेष्ठ है, उसका अर्थ यह है मानुष भाव से अधिक दूसरे के लिए सोचने वाला, दूसरा हो कर सोचने वाला भाव कोई नही है, मानुष भाव सबको स्वीकार करने वाला भाव है, सबजीवन की आकाक्षा करने वाला भाव है, वह भाव एकान्तत सर्वभाव के लिए अर्पित है। नारायण के लिए अर्पित है। उसका यह अर्पण ही उसको नरोत्तम बनाता है। कृष्ण को इतिहास पुरुष मानें न मानें (न मानें तभी अधिक अच्छा, क्योंकि तभी पूर्णनर पुरुषोत्तम हैं), उस रूप मे महाभारत के लिए कृष्ण उतना महत्त्व नही रखते, उन्हें भाव पुरुष मनाये बिना महाभारत नहीं मानता, क्योंकि वे ही अमृत सत्य की दीक्षा हैं, वही अमृत सत्य की साधना हैं, और वे ही अमृत सत्य की चरम सिद्धि भी हैं, जीवन भर लोकार्पित रहकर मरण के क्षण में शुद्ध रूप से स्वार्पित—स्व से लोक और लोक से स्व—यह वृत्त ही तो अमृत सत्य की साधना का अविराम पथ है, वृत्त पूरा होते ही नया वृत्त शुरू हो जाता है। सिद्धि साधना का सकल्प बन जाती है, कभी किसी ऐतिहासिक उद्देश्य की आपूर्ति नही होती, सच कहें तो ऐतिहासिक उद्देश्य कुछ है ही नही, कुछ है भी तो बहुत क्षुद्रतर उद्देश्य है—क्या तो उसकी पूर्ति, क्या तो उसकी अपूर्ति। सत्य के सचरणशील रूप में इतिहास एक बुद्बुद है, लहर भी नही। महाभारत इतिहास का काव्य है, इतिहास नही और आज के अर्थ म तो कतई नही, वह निरन्तर सोचने और नये सिरे से सोचने के लिए पग-पग पर उकसाता देता है, यही उसकी चरम चरितार्थता है। वह सोचता मनुष्य के बारे मे हो, उसके सम्बन्धो के बारे मे हो, उसकी सामाजिक व्यवस्था के बारे मे हो या उसके भीतर के द्वन्द्वो के बारे मे हो, प्रत्येक देश-काल म नये सिरे से शुरू होता है। महाभारत इस सत्यसाधन की एक अपरिहार्यता को नियति नहीं मानता, लाचारी नही मानता, इसे सत्य का ही स्वभाव मानता है, जैसे छाया का बदलता हुआ रूप प्रकाश का ही स्वभाव होता है।

अभी मैं भीष्म की श्रीकृष्णस्तुति से एक श्लोक पढ़ कर विराम लेता हूँ। उस सत्य को नमन करता हूँ जो अमृत भाव या जिजीविषा से उत्पन्न होने वाले ऋत से सत् का सेतु निर्मित करता है और धर्म-अर्थ के व्यवहार को उस सेतु निर्माण का अग बनाता है, ठाठ बनाता है।

यस्तनोति सतां सेतुमृतेनामृतयोनिना।
धर्मार्थ व्यवहाराङ्गैस्तस्मै सत्यात्मने नम ॥

(शा० प० ४७।४९)

□

दूसरा अध्याय

न जानपदिक दुःखमेकः शोचितुमर्हसि

महाभारत की पीडा

पहले अध्याय में रस से प्रारम्भ करके महाभारत के मर्म तक मैं पहुँचा था, आप को लगा होगा रस की बात मैं भूल गया। ऐसी बात है नहीं। सम्पूर्ण महा-भारत पढ़ लेने पर आज भी मेरे लिए निर्णय करना कठिन है, कि इस ग्रंथ का मुख्य रस शान्त है या करुण। मैंने शान्त रस के पक्ष में अनेक तर्क दिये, वे तर्क मेरे नहीं हैं, कुछ तो महाभारत के प्राचीन टीकाकारों के हैं, कुछ काव्यशास्त्रियों के और कुछ पूज्य स्वामी अखण्डानन्द जी जैसे स्वाध्यायरत मनीषियों के हैं। मैं जब लौकिक गृहस्थ की दृष्टि से सोचता हूँ तो मुझे महाभारत के केन्द्र में करुणा ही लहराती दिखायी देती है, वह शम की अंगभूत नहीं लगती, उलटे शम ही करुणा का अंगभूत लगता है। व्यास देव पाण्डवों के प्रति दुर्योधन और उसके साथियों का मनोभाव देख कर बहुत चिन्तित होते हैं। वह आगे इसका परिणाम देख कर उद्विग्न होते हैं और जब लाक्षागृह में पाण्डवों के जल मरने का समाचार हस्तिनापुर पहुँचता है तो वह अपनी माँ सत्यवती से कहते हैं कि तुम अपनी दोनों विधवा बहुओं को—अम्बिका और अम्बालिका को लेकर वन में तप करने चली जाओ, मैं देख रहा हूँ घोर विनाश उपस्थित है, तुम उसे देख नहीं पाओगी। ऐसे समय आ रहे हैं, जब रागात्मा धर्मी धरातल से सुख मिलना ही नहीं, सुख की स्मृति तक विलुप्त हो जायगी। भारत युद्ध जब उपस्थित होगा, जैसे दाँव पर कोई वस्तु फिर देने के लिए लौट आया हो, अब मौका मिला है, बदला लेने का। इस प्रतिक्रिया के आवेग में भर कर दुःख सामने आयेगा कि तुमने मेरी उपेक्षा की थी न, अब लो मैं भोग भोगाता हूँ। तब भविष्यत् ऐसा लगेगा कि पापतर कर्मों का फल है, कृष्ण की अपेक्षा ज्ञान वाला कर्म और

वडे पापो का परिपाक बन कर आ रहा है । इस त्रैकालिक दारुण दु:खबोध म सारी सम्भावनायें नष्ट हो जायगी । यह उर्वर धरती यह वत्सला धरती यह उदार रमणीय धरती एकदम बजर हा जायेगी उजाड हो जायगी जसे किसी निस्सन्तान नारी का यौवन ढल जाय या होने की सम्भावना न रह जाय उसका अस्तित्व चुक जाय ।

असम्प्राप्तसुखा काला प्रत्युपस्थित दारुणा ।
श्व श्व पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना ॥

ईर्ष्यावश मोहवश जो अन्याय बुद्धि घर कर लेती है उसका दु खद अन्त व्यास देखते हैं ऊपर से अनुद्विग्न रहते हैं अवश्य पर भीतर से पर्याकुल रहते हैं कि मनुष्य को क्या हो गया है वह किसी के धम्य न्याय्य प्राप्य को क्यो छीनना चाहता है । धतराष्ट्र पाण्डु विदुर व्यास के ही तो पुत्र हैं दो काशिराज की दो पुत्रियो से उत्पन्न तीसरे दासी से उत्पन्न । उनके पुत्रो के बीच कलह हो उस कलह से विनाश हो इसकी पीडा सबसे अधिक उन्हें होनी स्वाभाविक है । उनकी पीडा का अगर कोई साझीदार है तो दासी-पुत्र विदुर है । वह धृतराष्ट्र के सहोदर हैं धतराष्ट्र के मन्त्री हैं धम के अवतार हैं दुर्योधन की अनीति से दु खी हैं, बार-बार प्रयत्न करते हैं कि विग्रह की स्थिति टल जाय पाडवो को उनका प्राप्य मिल जाय । और जब विग्रह दुर्निवार हो जाता है तो शास्त्र त्याग कर देते हैं और युद्ध से विरत हो जाते हैं । युद्ध समाप्ति पर वे धतराष्ट्र को सम भाते और सान्त्वना देते हैं कि अकेले तुम्हारे ही पुत्र नही मारे गये पाण्डवो के पुत्र भी मारे गये हैं यह तुम्हारा अकले का दु ख नहीं है तो क्यो नही तुम इसे सबका दु ख मान कर सबके लिए चिन्ता करत ? शायद तब यह दु ख तुम्हारे व्यक्तित्व को नया आकार दे देगा तुम्हारे मोहग्रस्त विजडित व्यक्तिपन को बड दु ख की आँच लगेगी तो वह मन कुछ खुल सकेगा फैल सकेगा तब युधिष्ठिर तुम्हारे लिए सभी मानो म पुत्र हो सकेंगे । तुम प्राण भी दो यदि यह अकेले का द ख है तो नही जायेगा तुमसे चिपका रहेगा ।

न जानपदिक दु:खमेक नोचितुमर्हसि ।
अप्यभावन युज्येत तच्चास्य न निवतत ॥

धृतराष्ट्र कुछ अपने को सभालते हैं फिर जब पुत्रो के दाह सस्कार की बात उपस्थित होती है तो पुत्र शोक उन्हें विह्वल कर देता है और वह कोसत हैं मनुष्य योनि म जन्म को क्या इतनी ममता होती है मनुष्य योनि म । शायी

ब्याह करो, बच्चे पैदा करो, कुटुम्ब बढ़ाओ, सम्पति कमाओ, बच्चों की मृत्यु हो, सम्पत्ति नष्ट हो, कुटुम्ब नष्ट हो तो विष की आग में जलो। क्या विडम्बना है, इस मनुष्य जन्म को धिक्कार है, जिसको पा कर इतना सन्ताप करना पड़ता है।

> धिगस्तु खलु मानुष्य मानुषेषु परिग्रहे।
> यतो मूलानि दुःखानि सम्भवन्ति मुहुर्मुहुः ॥
> पुत्रनाशेऽर्थनाशे च ज्ञाति सम्बन्धिनामय।
> प्राप्यते सुमहद् दुःख विषाग्निप्रतिम विभो ॥
>
> (स्त्री० प० ८।१६-७)

धृतराष्ट्र का दुःख घोर प्रतिहिंसा मे रूपान्तरित हो कर कुछ शान्त हो जाता है, जब वह भीम को आलिंगन के बहाने आमन्त्रित करते हैं और उनके सामने लोहे का भीम जो दुर्योधन ने बनवा कर अपने द्वार पर रखा था, दिया जाता है। धृतराष्ट्र के क्रोध मे ऐसी आसुरी शक्ति पैदा हो जाती है कि वह लोहा धृतराष्ट्र की बाँहों मे पिस कर चूर-चूर हो जाता है। क्रोध शान्त हो जाता है, पर वृद्ध धृतराष्ट्र के मुंह से खून गिरने लगता है क्योंकि छाती का जोर भी उन्होंने लगाया था, और वह फूल लहराते हुए कटे पारिजात के पेड़ की तरह जमीन पर भहरा पड़ते हैं। उनका सारा आवेग मर जाता है, उनका व्यक्तित्व ही खण्डित हो जाता है—

> ततः पपात मेदिन्या तथैव रुधिरोक्षितः।
> प्रपुष्पिताग्रशिखरः पारिजात इव द्रुमः ॥

होश आने पर धृतराष्ट्र को मन मे ग्लानि होती है कि मैंने भीम को औचक मे ही बाँहों मे भर कर मार डाला। विदुर और श्रीकृष्ण उन्हें समझाते हैं कि आपका क्रोध अनुचित था। पर आप आश्वस्त हो, भीम बच गये। इसके बाद गान्धारी का शोक उमड़ता है और वह अनुतप्त होकर पाण्डवों को शाप से दग्ध करने को होती हैं कि व्यास ध्यान लगाकर उनके मन का अभिप्राय देख लेते हैं और शाप से रोकने पहुँच जाते हैं—क्या करने जा रही हो बेटी, तुमसे जब-जब दुर्योधन लड़ाई के दिनों मे प्रणाम करने गया, उसे जय का आशीर्वाद दे कर यही कहा 'यतो धर्मस्ततो जय' जिधर धर्म होगा, उधर ही जीत होगी। तुम्हारी भीतरी सचाई ही धर्मराज युधिष्ठिर की जीत बनी है। तुम अब अपनी

सचाई को अन्यथा करना चाहती हो, अपने धर्म का स्मरण करो और क्रोध पर काबू पाओ।

स्व च धर्मं परिस्मृत्य वाच चोक्ता मनस्विनि ।
कोप सयच्छ गान्धारी मैव भू सत्यवादिनि ॥
(स्त्री० प० १५।१३)

गान्धारी व्यास के समझाने पर शान्त हुई, पर फिर शोक भड़का। उन्होंने युधिष्ठिर को बुलवाया और युधिष्ठिर ने कोई सफाई नही दी। बस, मैं अपराधी हू माँ तेरा, मैं ही तुम्हारे पुत्र का हन्ता हू। मैं ही पृथ्वी के नाश का कारण हू, मुझे शाप दो। गान्धारी इस सीधी विनयशीलता के लिए तैयार नही थी। वह आँखो की पट्टी पूरी नही खोलती। जरा-सा नीचे देखती हुई खोलती हैं और युधिष्ठिर के पैरो के नख दिख जाते हैं। गान्धारी की दहकती नजर पडते ही वे नख काले हो जाते हैं। परन्तु वही गान्धारी श्रीकृष्ण को क्षमा नहीं करतीं। तुमने कुरुवश के विनाश की उपेक्षा की, तुम्हारे कुटुम्बी भी आज से छत्तीस वर्ष बाद आपस मे लड कर मर जायेंगे और तुम स्वय दुर्मरण प्राप्त करोगे। तुम्हारे कुटुम्ब की स्त्रियाँ भी तुम्हारे मरने पर ऐसे ही ढाढ मार कर गिरेंगी जैसे भरत कुल की स्त्रियाँ रो रही हैं, अपने पति और अपने पुत्र की लाश पर।

यस्मात्परस्पर घ्नन्तो ज्ञातय कुरुपाण्डवा ।
उपेक्षितास्ते गोविन्द तस्मात् ज्ञातीन् वधिष्यसि ॥
त्वमप्युपस्थिते वर्षे षट्त्रिंशे मधुसूदन ।
हतज्ञातिर्हतामात्यो हत पुत्रो वनेचर ॥
अनाथवदविज्ञातो लोकेष्वनभिलक्षित ।
कुत्सितेनाभ्युपायेन निधन समवाप्स्यसि ॥
तवाप्येव हतसुता निहतज्ञातिबान्धवा
स्त्रिय परिपतिष्यन्ति यथैता भरतस्त्रिय ॥
(स्त्री० प० २५।४३-४६)

श्रीकृष्ण इस शाप को हँस कर लेते हैं और गान्धारी को यह कह कर अप्रतिभ कर देते हैं—

चीर्णं चरसि क्षत्रिये ।

जो बात पहले ही घट चुकी है, घटना-प्रवाह मे आ चुकी है, उसको अपने शाप

से घटित करने जा रही हो। पाण्डव यह सुनते हैं और जीवन से निराश हो जाते हैं। पर श्रीकृष्ण शोक की चिन्ता नहीं करते, कोई दया नहीं करते गान्धारी को ही सुनाते हैं "तुमने दुर्योधन जैसे ईर्ष्यालु, दुरात्मा वैर पुरुष, निष्ठुर और वृद्धो मे अनादर करने वाले पुत्र को आगे किया। मुझे दोष देकर अपने दोष से मुक्त होना चाहती हो—

तवैव ह्यपराधात् कुरवो निधन गता"
(स्त्री० प० २६।१)

इस प्रकार श्रीकृष्ण की इस निष्ठुर फटकार मे पुत्र-शोक की कहानी का अन्त होता है। यह अन्त एक बार पुन सोचने को विवश करता है कि ग्रन्थ का तात्पर्य निष्ठुर तटस्थता मे है, निरपेक्ष शम मे है, करुण मे नही, क्योकि धर्मद्रुम के मूल तो श्रीकृष्ण हैं, उनके मन मे तो निरपेक्ष निरुद्वेग समता है, शत्रु-मित्र वहाँ है ही नही। जिन मानवीय नातो-रिश्तो से दूसरे विह्वल हैं, उनसे श्रीकृष्ण क्यो नही होते, विदुर क्यो नहीं होते, यह प्रश्न बार-बार महाभारत पढने वाले के मन मे उठता है। कोई सही उत्तर नही मिलता। हाँ, एक उत्तर मिलता है। मनुष्य का दुख दूसरे का लाया हुआ नही है, अपना लाया हुआ है और किसी समुदाय का दुख भी उसी समुदाय का लाया हुआ होता है, दुख के कारण बाहर नही हैं, भीतर हैं, मनुष्य के अस्तित्व के भीतर हैं। यह उत्तर मिलता है तो विचित्र प्रश्न उठने लगते हैं। हम दुख को क्यो नही रोक पाते ? श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश हमे क्यो नही दुख को सहने और दुख को रोकने की शक्ति देता है ? क्योकि महाभारत युद्ध से बडी घटना महाभारत ग्रन्थ की रचना भी अकृतकार्य रह जाती है ? मनुष्य को यह पहचान कराने मे कि मृत्यु और अमृतत्व तुम्हारे भीतर है, न किसी मित्र मे है, न किसी शत्रु मे, न किसी सत् शास्त्र मे, न किसी नकली शास्त्र मे ? बार-बार महाभारत के ही शब्दो मे रसोई के रस-ग्रहण मे जैसे कलछुल असमर्थ रहती है, वैसे ही महाभारत जैसे शास्त्रो के शास्त्र, काव्यो के काव्य, जीवनो के जीवन के रस-ग्रहण मे वह मनुष्य जिसके पास अपनी प्रज्ञा नही है, क्यो असमर्थ रहता है ?

ये प्रश्न उठते हैं, यही उत्तर है इस जिज्ञासा का कि श्रीकृष्ण क्यो उद्विग्न नही होते। क्योकि ये प्रश्न उठें न, तो श्रीकृष्ण अवतीर्ण क्यो हो ? ये प्रश्न उठें न, तो मनुष्य मनुष्योत्तम कैसे हो ? ये प्रश्न उठें और बार-बार उठें, यह गहरी करुणा का बोध बार-बार मनुष्य को चेतना को कोंचे, मथे, बींधे, काटे, दाहे, यही जीवन की चरितार्थता है। मोक्ष कोई चरितार्थता मे चरितार्थता है ?

परमात्मा से सायुज्य या सारूप्य कोई चरितार्थता है, स्वर्ग मे इन्द्र की कोई चरितार्थता है ? परमात्मा की, विश्वात्मा की भी चरितार्थता इसमे है कि नर रूप मे अपने को अवस्थित करें, नर के व्यवहार करें, नाते-रिश्ते निभायें, नाते-रिश्तो के मोह-छोह की विडम्बना से गुजरें और कही न कही पक्षधर बनें, पक्षधर होने का दायित्व अपने ऊपर लें और तब सबसे निछाह, निर्मोह होकर सब के दु ख को उसका इतिहास उन्ही के राग-द्वेष की खिडकी से झाँक कर यकायक गायब हो जाय, एक विशाल वृक्ष को रस देने वाला मूल एक दूसरे विशाल वृक्ष के मूल से लग कर तैयारी कर ले, नारायण की, नर से नरोत्तम से विदाई की—और पैरो मे तीर लगे तो नर जान कर नही, सावज जान कर नर बिंध जाय। नरत्व की निष्कृति हो जाय, नरोत्तम उद्धव के मन मे भाव बन कर चले जायें। खाली जगह नारायण भर लें, व्यास अपनी सरस्वती को उपराम दें, गणेश लेखनी रख दें, वैशम्पायन पोथी बन्द कर दें, जनमेजय के हाथ वक्ता के पैरों पर चुपचाप चले जायें। दूसरे श्रोताओ के हाथ टिप्-टिप् झरती आँखो पर चले जायें। यही नारायण की चरितार्थता है। वे अव्यक्त जल में रहते हैं और व्यक्त हुए बिना जो रह न सके, उस अश्रु-जल मे वे तिरने लगें, यही उनकी चरितार्थता है। बिना लाग-लपट के कहे तो करुणा के रूप मे ही जीवन का सत्य आकार पाता है। महाभारत का प्रतिपाद्य सत्य का करुणा के रूप में अवतरण है।

मैंने इस दूसरे अध्याय का शीर्षक रखा है—महाभारत की पीडा। और मैंने धृतराष्ट्र के ऐकान्तिक अजानपदिक दु ख से बात शुरू की जिससे अपने मुख्य वक्तव्य के लिए एक फलक तैयार कर सकूं। मेरा मुख्य वक्तव्य जानपदिक दु ख को ले कर है। इस जानपदिक दु ख की प्रतीति का हलका-सा आभास व्यास की युद्धपूर्व की परिकल्पना से अवश्य दिया है। युद्ध की वास्तविकता का पीडा-भरा साक्षात्कार कैसा होता है, इसकी चर्चा करूंगा। जब युद्ध मे वीर-गति प्राप्त करने वालो को तिलाजलि दी जा रही थी तो कुन्ती ने कर्ण को अपना ज्येष्ठ पुत्र बतलाया। युधिष्ठिर को यह जान कर बड़ा पश्चाताप हुआ और उन्हें बार-बार यह बात कचोटने लगी कि जब-जब कर्ण कटु वचन कहते थे, मुझे क्रोध आता था, पर कर्ण के पैरो पर मेरी दृष्टि पड़ती थी, वे पैर मेरी माँ के पैरो जैसे थे, मेरा क्रोध शान्त हो जाता था—

> यदा ह्यस्य गिरो रूक्षा शृणोमि कटुकोदया।
> सभायां गदतो घूते दुर्योधन हितैषिण ॥
> तदा नश्यति मे रोष पादौ तस्य निरीक्ष्य ह।
> कुन्त्या हि सदृशौ पादौ कर्णस्येति मतिर्मम ॥
>
> (शा० प० २।४०-४१)

युधिष्ठिर इतने दुःखी हुए कि उन्हीं माँ को उलहना दिया—तुमने यह बात छिपा कर मुझे इस पश्चात्ताप की स्थिति मे ला दिया है, आज से स्त्रियो के पेट मे कोई बात नही पचेगी। इस आघात को वह झेल नही पाते जैसे बस उनके धैर्य का बाँध जर्जर हो कर बस उस धक्के की प्रतीक्षा कर रहा हो और वह युद्ध मे विजय प्राप्त करके भी राज्य का भोग नही करना चाहते। उन्हें इतने बड़े विनाश के बाद युद्ध का व्यापार ही बहुत हेय लगता है—राज्य के लोभ ने क्या कर दिया, जिनके पैदा होने के लिए पिताओ ने तप किया, माताओ ने कितने व्रत किये, कितने अनुष्ठान किये, कितनी आशाएं बाँधी, उनके सारे मनोरथ विफल हो गये, उनके जवान बेटे, कुण्डलो से दमकते हुए बेटे बिना पार्थिव भोग भोगे, बिना अपने देव-पितृ-ऋणो से उऋण हुए यमलोक को चले गये, हमने कितनी आकाक्षाए धूलि मे मिला दी—

> बहुकल्याण सयुक्तानिच्छन्ति पितर सुतान् ।
> तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च तितिक्षया ॥
> उपवासैस्तथैज्याभिर्व्रत कौतुकमगलै ।
> लभन्ते मातरो गर्भान् मासान् दश च बिभ्रति ॥
> यदि स्वस्ति प्रजायन्ते जाता जीवन्ति वा यदि ।
> सम्भाविता जातबलास्ते दद्युर्यदि न सुखम् ॥
> इह चामुत्र चैवेति कृपणा फल हैतव ।
> तासामय समुद्योगो निवृत्त केवलोफल ॥
> यदासा निहता पुत्रा युवानो मृष्टकुण्डला ॥
> अभुक्त्वा पार्थिवान् भोगान् ऋणान्यनपहाय च ।
> पितृभ्यो देवताभ्यश्च गता वैवस्वतक्षयम् ॥
>
> (शा० प० ७।१४-१८)

युधिष्ठिर को अर्जुन समझाते हैं, युद्ध से स्वय मोहवश मुँह मोड लेने वाले अर्जुन समझाते हैं, तुम धर्म और अर्थ को छोड कर वन मे जाकर तपस्वी जीवन बिताना चाहते हो, यह पापिष्ठ कापाली वृत्ति, यह भिक्षमगी वरण करोगे, ससार क्या कहेगा ? सभी भाई बार-बार धिक्कारते है, पर युधिष्ठिर का वैराग्यभाव अविचल रहता है, वह रक्त-दिग्ध अन्न नही खाना चाहते, वह इस स्थिति को नही स्वीकार कर सकते कि कौरवो के बिना, सामीदारो के बिना, राज्य का भोग किया जाय। वे इस ग्लानि से मुक्त नही हो पाते कि मैं ही पृथ्वी के नाश का कारण हूँ। व्यास समझाते हैं जो रचा जाता है वह नष्ट होता है, जो जन्म लेता है, मरता है, जो उठता है, वह गिरता है, जो जुडता है, वह बिछुडता है। सुख

का अन्त है आलस्य और फिर दु ख, दु ख का अन्त है दक्षता, कुशलता, सजगता और सुख—

> सर्वे क्षयन्ता निचया पतनान्ता समुच्छ्रया ।
> सयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्त हि जीवितम् ।।
> सुख दुःखान्तमालस्य दाक्ष्य दु.ख सुखोदयम् ।।
>
> (शा० प० २७।३१-३२)

पर युधिष्ठिर कुछ बोलते नही, उनके मन मे यह बात उतरती नही कि राज्य का भोग मेरी नियति है। तब अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं, तुम समझाओ। श्रीकृष्ण अपने निठुर तर्कों से समझाते हैं कि युद्ध मे वीर-गति को जो प्राप्त हुए, उनके लिए क्यो शोक करते हो और पुत्र-शोक विह्वल सजय को सम्बोधित कर नारद की गाथा सुनाते हैं। इस गाथा मे अनेक यशस्वी राजाओ का स्मरण है। अन्त मे यह टेक है, ऐसे महान् राजा चले गये तुम्हारे पुत्र से चौगुने यशस्वी और पुण्यवान्, क्यो पुत्र के लिए शोक करते हो—

> स चे ममार सृजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
> पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथा ।।
>
> (शा० प० १२)

स्वय नारद आ कर युधिष्ठिर को समझाते हैं। अन्त मे व्यास पुन प्रबोधित करते हैं। यज्ञ करो, दान दो, मन के पाप की शान्ति के लिए प्रायश्चित्त कर लो, पर राज्य करने से विरत न हो। जैसे-तैसे युधिष्ठिर राज्याभिषेक के लिए प्रस्तुत होते हैं, पर उन के मन का चोर नहीं जाता है, भीष्म से राज-धर्म, मोक्ष-धर्म जैसे विविध अवस्थाओ के धर्मो के बारे में चर्चा करके भी, अश्वमेध कर के भी वह भीतर भीतर जलते रहते हैं, उन का अन्तर्दाह हिमालय की यात्रा मे ही शान्त होता है।

युधिष्ठिर का दुःख अपना नहीं है, उसके कारण वही अकेले नहीं हैं, सबसे कहीं-न-कहीं चूक हुई है। सबने अपनी गलती कभी-न-कभी मानी भी है, पर सबने एक दम्भ पाला है कि हम जो कर रहे हैं, वह उचित है, कम-से-कम हमारी स्थिति में उचित है, सब मे कहीं-न-कहीं सीधी राह चलने से कतराव है। सभी के साथ ऐसा घटित होता है कि यकायक उनकी नकाब उतार ली जाती है, सब के भीतर के झूठ को कोई न कोई सगा व्यक्ति ही उघार कर रख देता है, इसके बावजूद सब लाचार हैं, गलत-सही जिस राह पर हैं, उस पर चलते रहते हैं और

महा विनाश मे सब एक साथ हो जाते हैं । महाभारतकार जो भी रहे हो, यह देख रहे हैं और उस ग्रन्थ को अपने जीवन का अग बना कर वाचन-रचना करने वाला देख रहा है कि एक छोटा-सा प्रमाद कितने बडे झूठ का जाल रच देता है, कोई भी पछतावा उस जाल को काट नही पाता ।

कौरव-पाण्डवो के उदय के मूल मे प्रमाद है, पराशर का प्रमाद कि सत्यवती के ऊपर आसक्त होते हैं और उसे पुत्र उत्पन्न करके पुन कुमारी होने का वरदान दे कर कृतकार्य हो जाते हैं, यह देख नही पाते कि जिस बीज को इस कुहासे मे नदी के द्वीप मे रोप रहा हूं, वह किस भयकर अन्तर्द्वन्द्व का शिकार होगा, अशेष ज्ञान सम्पदा अर्जित करके भी कैसे कुमारी माँ के स्नेहपाश मे उलझ कर ऐसी कुटुम्ब रचना करेगा जो रचना कुटुम्ब-भाव ही नष्ट कर देगी । सत्यवती से प्रमाद होता है कि वह अपने नये चाहक शान्तनु से वादा लेती है कि पहली पत्नी से उत्पन्न पुत्र नही, तुम्हारी कोख से उत्पन्न पुत्र ही राज्य का अधिकारी होगा । और होता यह है कि उसके तीन पुत्र होते हैं, दो अकाल कालकवलित हो जाते हैं, एक बचते हैं विचित्र-वीर्य, उनके लिए तीन-तीन बहुएँ भी हरण करके लायी जाती हैं । अब सब राज बिलसने की आशा क्षीण हो जाती है । परन्तु सौतेले पुत्र भीष्म ब्रह्मचर्य की भीष्म-प्रतिज्ञा कर चुके हैं, सन्तान कैसे चले ? वह कौमार्य पुत्र व्यास का स्मरण करती हैं, तुम इन बहुओ को सन्तान दो, बहुएँ व्यास के काले भयावने रूप को सह नही पाती, जैठी अम्बिका आँखें मूँद लेती है, अन्धे धृतराष्ट्र पैदा होते हैं । छोटी अम्बालिका डर के मारे पीली पड जाती है, रक्ताल्पता से ग्रस्त पाडु पैदा होते हैं, सत्यवती बडी बहू अम्बिका से कहती है, एक बार तुम पूरे मन से व्यास को स्वीकार करो, वह छल करती है, दासी सेज देती है और दासी के मन मे पूरा स्वीकार भाव है, सर्वांग सुन्दर विदुर पैदा होते हैं । भीष्म से प्रमाद होता है कि दो भाइयो के लिए काशीराज की तीन-तीन कन्याएँ हर कर लाते हैं, बडी कन्या अम्बा शाल्व के पास लौटना चाहती है । भीष्म तो अनुमति दे देते हैं, पर शाल्व अम्बा के प्रति अनुरक्त होता हुआ भी उसे अपहृत नारी मान कर ग्रहण नही करता । वह अम्बा नारीत्व के अभिशाप से जल कर दो-दो जन्मो मे निरन्तर तप करती है, मैं भीष्म के कारण इस दुरवस्था को प्राप्त हुई, उसके वध की योग्यता प्राप्त कर सकूँ । भीष्म ने *पितृभक्ति मे कुछ अतिरिक्त कठोर प्रतिज्ञा की और पितृभक्ति मे* कुछ अतिरिक्त पुरुष-भाव दिखलाया—एक भाई के लिए तीन बहुएँ ले आये, यह भी नहीं सोचा कि अम्बा सामाजिक व्यवस्था की दुर्बलता के कारण इतो भ्रष्ट तनो भ्रष्ट होगी, उसका क्या होगा, उसे जाने दिया । अम्बा के अपहरण के प्रतिकार मे परशुराम भीष्म से लडने पर उतारू हो गये, तब भी भीष्म क्षात्र दम्भ मे ही फूले रहे । वह बिना राजा हुए राज्य के अभिभावक का दम्भ पालते

रहे तीन पुश्त तक और बन गये दास, धर्म और न्याय-बुद्धि रहते हुए उन्होने विरोध की क्षमता खो दी। नारीत्व के तिरस्कार का फल भीष्म को मिला। युधिष्ठिर से सबसे बडा प्रमाद तो द्यूत हुआ, वह सब विवेक भूल गये, भाइयो और पत्नी तक को दाँव पर रख दिया, यह जानते हुए भी कि द्रौपदी उनकी सम्पत्ति नही है, उस प्रमाद की निष्कृति विराट् के घर विराट् के हाथो पासे का आघात पा कर हुई। दूसरा प्रमाद हुआ जब उन्होने 'अश्वत्थामा हत नरो वा कुजरो' कह-कर अपनी सत्यवादिता सुनायी। युधिष्ठिर को इसके लिए अपने प्रिय भाई अर्जुन से, अपनी पत्नी द्रौपदी से फटकार सुनने को मिलती है, अपने पुत्रो के सोते मे वध का घोर दुःख झेलना पडता है। एक मामूली नेवले से अपने यज्ञ की तुच्छता का उद्घोष सुनने को मिलता है। कुन्ती से प्रमाद हुआ कि कर्ण को उसने एक बाल-सुलभ कुतूहल मे जन्म देकर पानी मे फेंक दिया, किसी को नही बतलाया, युद्ध का भय सामने उपस्थित होने पर वह अपने पुत्र को मातृत्व देने गयी, पुत्र ने कहा, अब तीर निकल चुका, तुमने मेरी वास्तविक पहचान नष्ट कर दी, बडा अपकार किया, अब मैं सूतपुत्र की पहचान पा चुका हू, दुर्योधन की कृपा से अगराज हो गया हू। मैं इतना ही करूँगा कि दावे पाकर भी तुम्हारे चार पुत्रो की जान बख्श दूँगा, पर अर्जुन को नही छोडूँगा, तुम्हारे हर हालत मे पाँच पुत्र बने रहेंगे कर्ण सहित या अर्जुन सहित। कर्ण जैसे तेजस्वी से दो-दो प्रमाद हुए, मारे डाह के परशुराम से अस्त्र विद्या सीखने गये और झूठ बोल गये—मैं ब्राह्मण हूँ, यह झूठ उनकी कठिन सहिष्णुता के कारण पकडा गया और परशु-राम ने शाप दिया कि तुम यह विद्या कठिन अवसर पर भूल जाओगे। दूसरा प्रमाद हुआ कि तीरदाजी के अभ्यास के नदी मे उन्होने एक ब्राह्मण की होम-धेनु के बछडे को मार दिया, फिर दक्षिणा देकर ब्राह्मण को उन्होंने सन्तुष्ट करना चाहा, और ब्राह्मण इससे और कुपित हुआ कि कैसा शूर-वीर है जो धन से पुण्य खरीदना चाहता है। उसने शाप दिया कि तुम्हारे रथ का पहिया धँस जायेगा, तभी तुम मारे जाओगे। कर्ण ने दान के दम्भ मे और ईर्ष्या तथा अप-मान के दाह मे विवेक एक बार खोया तो खो दिया। पहिया धँस जाने पर उन्होंने अर्जुन से कहा, बाण मत चलाओ, रुक जाओ, रथ से उतरे हुए पर रथी बाण नही चलाते। अर्जुन रुका, पर श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया तुम्हारी धर्म-बुद्धि तब कहाँ थी, जब द्रौपदी का चीर हरण हुआ, अभिमन्यु का वध हुआ, भीम को जहर पिलाया गया, पाडवो को जलाने के लिए लाक्षागृह बनाया गया, कपट से जुए मे युधिष्ठिर को हराया गया, वन मे उनके ऊपर आक्रमण की रचना की गयी? कर्ण कुछ बोल नही पाता। उसका झूठ उसे मार देता है। द्रोण से प्रमाद होता है कि अपने सहपाठी द्रुपद से नाराज होकर द्रुपद से बदला लेने के लिए अस्त्र विद्या के विक्रेता बन कर धृतराष्ट्र के आश्रित हो जाते हैं

और द्रुपद से बदला ले कर प्रतिहिंसा के चक्र में फँस जाते हैं। सब धर्म-बुद्धि रखते हुए वह अभिमन्यु के लिए चक्रव्यूह की रचना करते हैं। पुत्र-मोह में वह पुत्र-मृत्यु की अप्रमाणित घोषणा सुन कर शस्त्र त्याग कर बैठते हैं और द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा मार डाले जाते हैं। और पात्रों की बात क्या की जाय, उनमें आसुरी सम्पदा का वैसे ही आधिक्य है, चाहे दुर्योधन हो, दुःशासन हो, जयद्रथ हो, शकुनि हो, धृष्टद्युम्न हो। हाँ, कृष्ण की सखी द्रौपदी से भी, जो याज्ञसेनी है, यज्ञ द्वारा पैदा हुई है, भूल होती है, उसे ऐश्वर्य का अभिमान होता है, दुर्योधन को उजले फर्श में जल का भ्रम होता है तो अशोभन तरीके से हँस पड़ती है, 'अन्धे के पुत्र को यह भ्रम होना ही था।' उससे आग भड़क उठती है दुर्योधन के मन में। और फिर तो प्रतिहिंसा का दुश्चक्र शुरू हो जाता है। दूसरी बार भूल होती है जब वह सन्धि प्रस्ताव के समय श्रीकृष्ण से कहती है, मन्यु वेग से उसके मुँह से निकलता है, न मेरे पति हैं, न पुत्र हैं, न भाई हैं और गोविन्द तुम भी नहीं हो। इस बात की याद दिलाते हैं भीम जब अश्वत्थामा ने द्रौपदी के पुत्रों का वध कर दिया है—

> नैव मे पतयः सन्ति न पुत्रा भ्रातरो न च ।
> न वै त्वमिति गोविन्द शर्मभिच्छति राजनि ॥

तुम्हीं ने श्रीकृष्ण से ऐसे कठोर वाक्य कहे थे। अब क्षात्र धर्म की कठोरता को स्वीकार करो। द्रौपदी को श्रीकृष्ण से ऐसा नहीं कहना चाहिए था, पर वह अपने से अधिक महत्व देकर चूक गयी। एक ओर धर्मिष्ठ और बलिष्ठ पात्रों के प्रमादों की यह शृंखला दुःख की शृंखला बनते दीखती है तो दूसरी ओर विचित्र विडम्बना है कि कमजोर और दुरात्मा पात्रों के विवेक के बीच-बीच में उदय की शृंखला भी दीखती है। दुर्योधन गन्धर्व-राज चित्रसेन द्वारा जब बांध लिया जाता है और युधिष्ठिर उसे छुड़वा लेते हैं तो वह ग्लानि में अनुतप्त होकर सब कुछ छोड़ कर अनशन करने को उद्यत हो जाता है। अश्वत्थामा पिता के अधर्म्य वध के बाद भी एक बार दुर्योधन को समझाता है कि सन्धि कर लो, धृतराष्ट्र की वैश्या से उत्पन्न युयुत्सु एक झटके में निर्णय लेता है, और दुर्योधन के साथ न रह कर युधिष्ठिर के साथ हो लेता है, सौ भाई मारे जाते हैं, युयुत्सु अकेला धृतराष्ट्र को पानी देने वाला बचता है। हिडिम्बा राक्षसी के गर्भ से उत्पन्न घटोत्कच क्षत्रिय-पुत्रों से अधिक पितृ-ऋण चुकाता है। छोटी-छोटी कथाओं के छोटे-छोटे पात्र—मांसविक्रयी व्याध, तुलाधार वैश्य, यहाँ तक कि तिर्यग् योनि के जीव, पशु-पक्षी भी तपस्वियों से अधिक ऊँची धर्म-बुद्धि का परिचय देते हैं।

महाभारत पढने पर ऐसा लगता है कि हार-जीत, जन्म मरण, कीर्ति-अकीर्ति की बात अलग रख दें, तीन पुरुष और तीन नारियों की आजीवन व्यथा-कथा ही महाभारत है। तीनो पुरुष हैं व्यास, विदुर और युधिष्ठिर, तीनो धर्म के वेत्ता हैं, धर्म के प्रतिमान हैं और धर्म के बोध के कारण ही निरन्तर एक कचोट से कष्ट पाते रहते हैं कि 'न च कश्चित् शृणोति माम्'—मेरी बात कोई नही सुनता। तीनो का जन्म कुहासे से ढका हुआ है, तीनो अपने समय की पुरुष प्रधान सामाजिक व्यवस्था को नृशस मानते हैं, तीनो नारी के प्रति चाहे वह माँ हो, पत्नी हो, बहू हो या कुछ भी न हो, किसी जाति की हो, आदर भाव रखते हैं, तीनो प्रतिहिंसा के दुश्चक्र को धिक्कारते हैं। पर व्यास का दुख सबसे गहरा है। उन्हें न केवल देखना है, उन्हें देखा हुआ सब कुछ रचना है, और रचना को देखने का साधन बनाना है। युधिष्ठिर को निष्कृति मिलती है, विदुर को भी मिलती है, दोनो हिमालय की ओर जाते हैं, अकेलेपन की ऊँचाइयों की खोज मे, पर व्यास को सरस्वती तीर पर पूरी घटना मन में फिर रचनी है और रच कर भी उदास हो जाना है क्या किया, कुछ भी तो नही किया। माँ के कारण मैं कैसे मानवीय ममता के जाल मे फँस गया, मैं दूसरे कृष्ण का देखता रहा, जैसे प्रकाश की धारा मेरे आस-पास से मेरे ऊपर से बही जा रही है और मैं द्वैपायन कृष्ण, द्वीप मे पैदा हुआ, जीवन-भर द्वीप बना रहा।

तीन नारियाँ हैं अम्बा, कुन्ती और द्रौपदी, तीनो शिकार हैं सामाजिक व्यवस्था की जो उन्हें जीवन भर प्रताड़ित करती है। अम्बा कन्या-हरण के तथाकथित क्षात्र-धर्म की शिकार हो कर तीन-तीन जन्म प्रतिहिंसा मे जलती है कोई उसकी पीडा नही समझता, न हरण करने वाला, न प्रेमी, न पिता, न ऋषि-मुनि। उसका शिखण्डी के रूप मे रूपान्तर उपहास का विषय बन जाता है। वह स्त्री भी नही रह पाती और पुरुष हो कर भी, भीष्म से बदला ले कर भी हार ही पाती है। कुन्ती एक अबोधता-वश सूर्य को आमन्त्रित करती है और जीवन भर के लिए वैध्य हो जाती है, उससे सूर्य से उत्पन्न सचाई वहन नही की जाती, जब वह इसे प्रकाशित करती है तो बडी देर हो चुकी है, कर्ण भी उसका तिरस्कार करते हैं, युधिष्ठिर भी प्रतारणा देते हैं कि मुझे तुम जानती थीं, मेरे लिए कोई सचाई मुख्य नही है, क्यों नहीं बतलाया। द्रौपदी यज्ञ की ज्वाला से पैदा हुई, पर वह यज्ञ ही शाप-यज्ञ था, मत्स्यवेध स्वयवर मे वह वरण करती है अर्जुन को, हो जाती है पाँच की पत्नी, पाँच की पत्नी हो कर भी वह अरक्षित है, सभा मे उसका धर्षण होता है। वह अपमान से जलती रहती है। पर वह तीनो नारियों म सबसे अधिक विद्रोहिणी है, वह पुरुष समाज से लोहा लेती है, एकमात्र वही है जिसके श्रीकृष्ण मित्र हैं, बराबरी के रिश्ते मे हैं, औरो के लिए तो पूज्य हैं, प्रभु हैं, सम्माव्य हैं, दुर्ज्ञेय हैं, श्रीकृष्ण उसी के मित्र हैं और प्रत्यक्ष

सकट मे वे साथ है। द्रौपदी इसी से अम्बा और कुन्ती की तरह परावलम्बित नही है, वह अपने बल पर टिकी रहती है।

महाभारतकार द्रौपदी को इसी से महाभारत के केन्द्र मे रखते है कि वह एक समस्या भी है, एक समाधान भी है। वह युधिष्ठिर को नायक बनाते हैं कि वह सबसे कमजोर और वेध्य होते हुए भी सबसे अधिक जमाने की चोट झेलते रह सकते हैं और उनका निर्णय चोट खाने से प्रभावित नही होता। दोनो उन्हे लगता है, उनकी पीडा है। महाभारत किसी छोटे को छोटा नही देखता, बडे को बडा नही देखता, बडप्पन ढूढता है कार्य मे, शील मे। हम सब इस अनुष्ठान मे सम्मिलित हैं, एक का किया अनुष्ठान नहीं है इस 'ये यजामहे' के भाव मे—

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते ।
सकरात्सर्ववर्णाना दुष्परीक्ष्येति मे मति ॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नरा ।
वाड् मैथुनमथो जन्म मरण च सम नृणाम् ॥
इदमोष प्रमाण च य यजामह इत्यपि ।
तस्माच्छील प्रधानेष्ट विदुर्ये तत्त्वदर्शिन ॥
(वन प० १८०।३१-३३)

और किसी की भी विडम्बनापूर्ण स्थिति को अनदेखा नही करता। युधिष्ठिर धर्मराज है, विवेकशील हैं, वह बडे मन का परिचय देते है, पर अन्तिम सघर्ष मे युद्ध की दानवी लीला की छाया मे वे भी मलिना जाते है। श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के धर्मराज्य रूपी वृक्ष के मूल हैं, पर एक गैर-बराबरी की लडाई मे जीतने के लिए दिखने मे छल जैसी युक्ति बनाने को लाचार हैं या जिसकी जैसी निष्कृति है, उसे वहाँ तक पहुँचाने की भूमिका निभाने को लाचार हैं। उन्हे अनेको के सत्य का निर्वाह करना है, अनेको की मन्यु का उपशम करना है, उनको छोटे सत्य, छोटी नैतिकता, छोटी बुद्धि को बडे सत्य, बडी नैतिकता और बडी बुद्धि के आगे झुकाना है। लगता है, महाभारतकार किसी भी बडप्पन को अवेध्य नही रहने देना चाहते, न किसी अकिंचनता को हीन होते देख सकते है। इसके पीछे प्रयोजन तलाशने चलते है तो यही समझ मे आता है कि महाभारत जीने का उत्साह देता है, पर ऐसा उत्साह नही कि तुम जीने की कठिनाइयो को झेलने को तैयार न हो और मुंह के बल पर गिर पडो। एक दूसरा प्रयोजन यह समझ मे आता है कि दुःख पर भरोसा किया जा सकता है, सुख पर नही। सुख मे रहते हुए आदमी के लिए जोखिम है कि वह मद-मोह का वध्य हो जाय (वतमान

सुखे सर्वो मुह्यतीति मतिमम—व०प०१८१।३०)। दुःख पर प्रतीति इसलिए भी की जा सकती है कि गहरे दुःख में ही मनुष्य को प्रतिस्मृति मिलती है, दूर तक पीछे देखने की, अपने को अपनी सम्पूर्ण इयत्ता से जोड़ने की, अपने को विश्लेषित करने की क्षमता मिलती है। जुए में सारा वैभव हार कर तेरह वर्षों का कठिन वनवास ले कर जब युधिष्ठिर चलने को होते हैं तो व्यास उन्हें अलग ले जा कर प्रतिस्मृति का वरदान देते हैं, युधिष्ठिर को क्यों देते हैं, इसका कारण है, युधिष्ठिर जितना दुःख बर्दाश्त कर सकते हैं उतना दूसरे भाई नहीं। भवभूति ने राम के मुँह से यही कहलाया है—

दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमर्पितम् ।

अभी मैंने अजगर पर्व से एक उद्धरण दिया जहाँ अजगर योनि में अभिशप्त नहुष के प्रश्न का उत्तर युधिष्ठिर ने दिया। युधिष्ठिर ने पूछा, आप अजगर कैसे हुए? नहुष ने कहा कि मैं इन्द्र पद पर आसीन हो कर ऐश्वर्य मद में मोहित हो गया। मैंने ऋषियों से कहा, मेरी पालकी उठाओ, मुझे शची के पास ले चलो। उन ऋषियों में एक थे अगस्त्य, उन्होंने पालकी उठायी तो, पर शाप भी दिया—जाओ, अजगर हो जाओ। नहुष ने पश्चात्ताप किया तो अगस्त्य ने कहा कि तुम्हें स्मृति बनी रहेगी और तुम्हारा उद्धार तुम्हारे ही वंशज युधिष्ठिर तुम्हारे प्रश्नों का समुचित उत्तर दे कर करेंगे। नहुष को इतने बड़े सुख के बाद सत्ता के मद के दण्ड रूप में जो दुःख मिलता है, वह स्मृति के कारण ही तीव्र बना रहता है और इसी कारण नहुष की प्रज्ञा जाग्रत रहती है। युधिष्ठिर क्यों नहुष के उद्धार-कर्ता बनने को नियत हैं, इसके बारे में सोचने पर मुझे *यही लगता है कि उनमें ऐश्वर्य का मद नहीं है*, और जुए में ऐश्वर्य गँवा कर वह अपने सत्यनिष्ठ स्वभाव में और अच्छी तरह अधिष्ठित हो गये हैं। युधिष्ठिर को दुःख ने यह पहचान करा दी है कि सुख भी तुच्छ है और सुख से तो दुःख बड़ा है, पर वह भी उस स्थिति से छोटा है, जहाँ न सुख है, न दुःख है। उस स्थिति में मनुष्य पहुँच कर सबके सुख और सबके दुःख की बात सोच सकता है। दुःख उस स्थिति में प्रवेश कराने का एक द्वार है जिस प्रकार मृत्यु का भय जीवन का द्वार है। बिना मृत्यु का भय सामने उपस्थित हुए जीवन की महत्ता समझ में नहीं आती, न सही और सच्चे जीवन का प्रकार समझ में आ सकता है। मृत्यु भी कई प्रकार की होती है, शरीर से प्राणों का उत्क्रमण ही मृत्यु नहीं है, अपमान भी—विशेष रूप से अपने बन्धु-बान्धवों के द्वारा अपमान भी मृत्यु है—विवेकी पुरुष से दुष्कर्म हो जाना भी मृत्यु है, पापी के आगे हृदय में हार मान लेना भी मृत्यु है। महाभारत में मृत्यु का अभिप्राय केवल

गीता के प्रवेशद्वार पर ही नही, अनेक बार अनेक स्थलो मे दुहराया गया है शुरू से ले कर अन्त तक। महाभारतकार मृत्यु या काल के भयप्रद पक्ष को महत्त्व नही देते, वह महत्त्व देते हैं, मृत्यु के बोधप्रद पक्ष को। काल और काल की गति समझे बिना जीवन का स्वीकार, पूरी तरह स्वीकार सम्भव नही है।

स्थान-स्थान पर महाभारत के बिखरे वाक्यो से ऐसा अर्थ वहुतों को निकलता प्रतीत होता है कि महाभारत नियतिवाद को प्रश्रय देता है, दैव को प्रश्रय देता है, पर यह महाभारत का मूल अभिप्राय नही है। दैव की बात है, पर दुर्बलता दिखलाने के लिए जो दुःख को अपना किया मानने का साहस नहीं रखता, वह दैव को मानता है और दुःख की दुस्सहता की प्रतीति मे दैव बहुत सहायक होता है। बहू कुन्ती से आशीर्वाद लेने पहुँचती है, कुन्ती बहू को आशीष देती है

भाग्यवन्त प्रसूयेथा न शूर न च पण्डितम्।
शूराश्च कृतविद्याश्च वने सीदन्ति मे सुता ॥

बेटी, तुम भाग्यवान् पुत्र उत्पन्न करना, शूर और पडित पुत्र नहीं, देखो, मेरे बेटे कितने शूर कितने विद्वान् और भाग्यहीन होने के कारण वन म मारे-मारे फिर रहे हैं। इसमे कुन्ती का यह भाव नही है कि मेरे पौत्र कायर हों, मूर्ख हों, बेटो के दुःख को न सह सकने वाला उसका मातृत्व अकुला उठता है कि भाग्य ने कैसा खेल रचा। क्या मेरे बेटो के बेटे भी सुख नही पायेंगे। माँ के हृदय मे स्नेह के कारण भविष्यत् के बारे मे शका होती है, उसी से घबडा कर वह कहती है, बेटी तुम्हारे बेटे भाग्यवान् हों, यह आशीर्वाद मैं पहले देना चाहती हूँ क्योंकि पराक्रम और ज्ञान की व्यर्थता अपने ऊपर भोग रही हूँ। कुन्ती के इस आशीर्वाद मे महाभारत ने पुत्र-स्नेह की दुर्बलता मे नारी-चित्र की विपुलता का बोध कराया है, इसमे भाग्यवान् की प्रशसा उद्दिष्ट नही है।

महाभारत मे नियति यदि है तो शुभाशुभ कर्म की परिणति है, शाप है तो कहीं न कहीं उसके मूल मे प्रमाद है। और शाप है तो उसका परिमार्जन है,वह परिमार्जन मनुष्य की सोई हुई चेतना का जागरण है। पुण्यात्मा को दुःख ही दुःख हैं, पापात्मा को सुख ही सुख हैं तो यह किसी दैवी शक्ति का अन्याय नही है, यह मनुष्य के भीतर रहने वाले दैवभाग-विवेक का फल है। जिसे विवेक होगा, वह सुख अकेले भोगते समय अपराध का अनुभव करेगा ही। वह गति तो चाहेगा, पर गलत ढग से प्रगति नहीं चाहेगा, वह गलत निर्णय लेकर भी फिर सही निर्णय लेगा। इसीलिए उसकी राह न एकदम सीधी होगी न एकोन्मुख होगी। वह बराबर सोचता रहेगा कि कहीं मेरा प्राप्य दूसरे का प्राप्य छीन कर

तो नहीं है, कहीं किसी अन्यायी से समझौता करके तो यह नहीं मिला है ? और उसे वपु का लाभ नहीं मिलेगा।

> अकृत्वा परसंतापमगत्वा खलमन्दिरम् ।
> अनुल्लंघ्य सतां मार्गं यत्स्वल्पमपि तद् बपु ।।

विवेकी पुरुष के लिए दुःख अनिवार्य है। इसका अर्थ यह नहीं है कि महाभारत में पुण्य के लिए कोई अभिप्रेरणा नहीं है, पाप के लिए अभिप्रेरणा है, अधर्म के लिए अभिप्रेरणा है या कि महाभारत दुःखवाद का प्रतिपादन करता है। महाभारत पापी से उसके पाप का परिणाम भोगाता है, पुण्यात्मा से उस के पुण्य का परिणाम भोगाता है, परन्तु यह भी पहचानता है कि काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मात्सर्य, इन छः आसुरी सम्पत्तियों की विशेषता है कि इनमें आशुकारित्व है, तुरन्त कुछ समय तक कुछ कर देने की, तुरन्त भभक उठने की, तुरन्त तृण की आग की तरह फैल जाने की क्षमता है। सत्य अहिंसा आदि दैवी सम्पत्तियों में चिरकारित्व है, देर से देर तक करते रहने की क्षमता है। एक बार राह छूट जाय तो फिर राह दिखाने की क्षमता है। मनुष्य को दोनों से किसी के वरण की स्वतन्त्रता है वह उत्कर्ष का नैरंतर्य और सम्पूर्णता चाहता है या वह एक अधूरा और अल्पकालिक उत्कर्ष चाहता है। सम्पूर्णता का वरण करने वाला व्यक्ति अपने लिए उत्कर्ष नहीं चाहेगा और दूसरे को भी उत्कर्ष चाहिए, यह सोचेगा। महाभारत बड़ी मछली के छोटी मछली के प्रति न्याय (मत्स्य न्याय) का यथार्थ पहचानता है पर उसे वह मनुष्य का रास्ता नहीं मानता। योग्यतम के अति जीवन का अर्थ अगर यह है कि आसुरी सम्पत्ति के बल से कोई योग्यतम होगा तो टिकेगा, शेष नहीं टिकेंगे, तो महाभारत को यह नहीं स्वीकार है, महाभारत तितिक्षा को योग्यता की कसौटी मानता है। सुख और दुःख झेलने की क्षमता न हो तो कैसी योग्यता, कैसी शक्ति। भारतीय प्रतिभा कभी भी कर्ण या भीम को नायक नहीं स्वीकार करेगी, वह अर्जुन को भी नायक नहीं स्वीकार करेगी, हनुमान, लक्ष्मण और भरत को भी नायक नहीं स्वीकार करेगी, क्योंकि इन सभी में पौरुष है, निष्ठा है, अनेक गुण हैं, परन्तु नायक से जो यह अपेक्षा की जाती है कि वह आत्म और पर में भेद न करे, वह आत्मीय और अनात्मीय दोनों की चिन्ता करे, वह जितना निठुर हो अपनी समता में, उतना ही मृदु हो अपनी सर्व चिन्ता में, वह अपेक्षा इनमें नहीं पूरी होती। राम नायक हैं, वह गन्धमादन पहाड़ नहीं ला सकते, सीता के बाण पर हनुमान को बिठा कर लंका नहीं भेज सकते, बारह वर्षों तक निरन्तर जाग कर पहरा नहीं दे सकते, पर वह सबकी सुधि रखने के कारण और सबसे निरपेक्ष रहने के

कारण नायक हैं। युधिष्ठिर मे न अर्जुन का पराक्रम है, न भीम का बल है, न कर्ण की दानशीलता है, न भीष्म का त्याग, पर वह नायक हैं, क्योंकि वह सब की कमजोरी समझ सकते हैं, अपनी भी कमजोरी समझ सकते हैं, सबका दु ख समझ सकते हैं और यह भी समझ सकते हैं कि प्राप्य की माँग न करना कायरता है, पर दूसरे के प्राप्य पर लोभ मनुष्य के सत्य के साथ घात है। महाभारत वीर गाथा नही है, युद्ध-गाथा भी नही है, वह मनुष्यत्व की कठिन यात्रा का काव्य है। इस यात्रा मे बार-बार अन्धकार घिरता है, कुछ नहीं सूझता है, पर एक दिया उस अन्धकार से निष्कम्प भाव से जूझता रहता है—उसकी दीवट सत्य की है, उसमे तेल तप का है, बत्ती करुणा की है, लौ क्षमा की है। बडे यत्न से वह दिया जलाया जाता है, क्योंकि न इतना तप आदमी सचित कर पाता है, न इतना दृढ आधार सत्य का उसके पास खडा हो पाता है, न इतनी करुणा उससे पूरी जाती है, न इतनी क्षमा (अविकृत क्षमा) उसमे अपने को जला कर दिपती रह सकती है। तब भी अन्धकार की चुनौती है मनुष्य को दिया जलाना ही है।

सत्याधारस्तपस्तैल दया वर्ति क्षमा शिखा।
अन्धकारे प्रवेष्टव्ये दीपो यत्नेन वार्यताम् ॥

अन्धकार मे खो नहीं जाना है, अन्धकार हो नही जाना है। महाभारत बार-बार घेरने वाले अन्धकार को, बार-बार पीडित करने वाले दु ख को चुनौती मानता है, और वह दु ख को चीरना चाहता है, पर दु ख से गुजर कर, दु ख से कतरा कर नही, मना कर नही।

इसी अर्थ मे मुझे लगता है महाभारत दु ख की सही पहचान का और इस पहचान के द्वार से सम्पूर्ण जीवन की पहचान का काव्य है। इस पहचान मे अपने-आप दूसरी चीजें छोटी हो जाती हैं, अर्थहीन वे नही होती, क्योंकि उनके रहते ही बडे अर्थ का बडप्पन दिखता है। जीवन मे भय का भी स्थान है, अभय का भी—जब तक भय उपस्थित न हो, तब तक भयभीत रहना चाहिए अर्थात् चिन्तित रहना चाहिए कि भय आ सकता है पर भय उपस्थित हो जाय तो अभय हो कर उस भय का नाश करना ही मनुष्यत्व है।

भीतवत्सविधातव्य या वद्भयमनागतम्।
आगत तु भय दृष्ट्वा प्रहर्त्तव्यमभीतवत् ॥
(शा० प० १४०।२३)

जीवन में काम का भी स्थान है निष्काम का भी, क्योंकि काम से ही निष्काम में पहुँचा जा सकता है। इसमें लाभ का भी स्थान है, प्रीति का भी, क्योंकि लोभ ही स्वार्थ की निवृत्ति के बाद प्रीति बन जाता है। ये सभी जीवन में गति के क्रिया के प्रेरक होते हैं पर ये सभी दुःख बन जाते हैं क्योंकि समता और सन्तुलन दोनों बनाये रखना मनुष्य के लिए कठिन है। तब दुःख का तीव्र अनुभव ही दुःख से मोक्ष कराता है। महाभारत में तीन उपमाएँ दी गयी हैं एक सींग की, दूसरी केंचुल की, तीसरी वृक्ष की। मृग की सींग बढ़ती है पुरानी हो जाती है और फिर मृग उसे झाड़ कर अलग कर देता है। साँप केंचुल उतार देता है, किनारे का वृक्ष नदी में ढह जाता है तो पक्षी उसे छोड़ देते हैं, न तो मृग को अपनी झड़ी हुई सींग का मोह होता है, न साँप को अपने निर्मोक यानी केंचुल से। न पक्षी को अपने बसेरे से जीवन की माँग है कि दुःख को पकाये, भोगे और फिर से इसी प्रकार से छोड़ दे

> यथा रुरुः शृङ्गमथो पुराणं
> हित्वा त्वचं वाप्युरगो यथा च।
> विहाय गच्छत्यनवेक्ष्य मार्गं ।
> तथा विमुक्तो विजहाति दुःखम् ।
>
> (शा० प० २१६।४८)

सींग की तरह ही चर्म की तरह ही दुःख एक बचाव है पर वह मूल अस्तित्व नहीं है, मूल अस्तित्व तो दुःख की चिन्ता न करने वाला जीवन है। इस प्रकार महाभारत व्यक्ति-दुःख से जानपद दुःख तक, जानपद दुःख से जीवन के अव्यय भाव तक यात्रा कराता है, वह दुःख को पड़ाव मानता है, गन्तव्य नहीं।

अगले अध्याय में उसी अव्यय भाव की चर्चा करूँगा।

अध्याय ३

सर्वभूतेषु येनेकं भावमव्ययमीक्षते

महाभारत का अव्यय भाव

महाभारत की पीडा की बात करते समय मैंने यह चर्चा की थी कि महाभारत-कार व्यास श्रीकृष्ण के प्रकाशमय व्यक्तित्व से अभिभूत हैं। वह सबको टूटते देखते हैं, हारते देखते हैं, झुकते देखते हैं, कहीं न कहीं पछताते देखते हैं, सचाई के आगे प्रतिहत होते देखते हैं, पर कृष्ण को उन्होंने कभी पछताते नहीं देखा, रोते नहीं देखा, घबराते नहीं देखा, जय-पराजय क्या है, इसकी बिल्कुल उपेक्षा करते देखा और मृत्यु की वेला मे भी वैसे ही अनुद्विग्न रहते देखा। जरा का तीर लगा, जरा का उन्होंने उपकार माना कि नरदेह की निष्कृति बन कर वालि जरा बन कर आया है। एकलव्य का पुत्र पूरी क्षत्रिय जाति के दम्भ का प्रतिकार लेने आ गया है, इसे ओढो, बडे ऊँचे मन से इस तीर का वरण करो, इस विद्ध जीवन के क्षण का वरण करो। व्यास ने श्रीकृष्ण के इस सर्वापेक्षी और सर्वापेक्षी, सबकी उपेक्षा करने वाले पर सब की अपेक्षाओं को समझने वाले सत्य से रस ले कर अपनी रचना का बिरवा रोपा।

महाभारत में वृक्ष का बिम्ब बार-बार आता है। पहले व्याख्यान में मैंने मृत्युद्रुम और धर्मद्रुम की बात की थी। पर दोनों दो नहीं हैं, एक ही महावृक्ष है, जिसमें १८ पर्व हैं, पोर हैं, हर पर्व मे अलग रस है, सबसे अधिक मीठा रस सबसे परिपक्व रस महावृक्ष के अन्तिम पर्वों में है—शान्ति, आश्वमेधिक मौसल महाप्रस्थान और स्वर्गारोहण पर्वों में है। मैंने ऊपर मे यह भी कहा कि पण्डित पहले यही रस चखते हैं, पहले वे शान्ति पर्व पढने पर बल देते हैं। पूरा रूपक इस महावृक्ष का इस प्रकार है —

सग्रहाध्यायबीजो वै पौलोमास्तीकमूलवान ।
सम्भवस्कन्धविस्तार स भारण्यविटक्वान ।।
आरणीपव रूपाढयो विराटोद्योगसारवान ।
भीष्मपव महाशाखो द्रोणपव पलाशवान ।।
कणपर्वसित पुष्प शल्यपव सुगन्धिभि ।
स्त्रीपर्वैषीकविश्राम शान्तिपव महाफल ।।
अश्वमेधामत रस त्वाश्रमस्यानसश्रय ।
मौसल श्रुतिसक्षप शिष्टद्विजनिषवित ।।
सर्वेषा कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति ।
पजन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुम ।।

(आ० प० १।८८ ९२)

अथात महाभारतवक्ष का बीज है सग्रहाध्याय जड है पौलोम और आस्तीक स्कन्ध या तना है सम्भव पव (ये सभी आदि पव के अग हैं), सभा पर्व और *अरण्य पव तना का विस्तार है—उसम बने हुए कोटर ही पक्षियो के, सर्पों के* आश्रय बन जाते है । आरणि पव (वन पव का एक अग है) इसकी गाँठ है विराट और उद्योग पव इस वक्ष के हीर हैं (भीतर के सार भाग हैं पके हुए हिस्से हैं) । भीष्म पव इसकी शाखाओ का विस्तार है इन्ही शाखाओ म एक अद्वितीय शाखा है जो ठीक ऊपर को चली जाती है—श्रीमदभगवदगीता द्रोण पव पत्रजाल है । कण पव पुष्प है शल्य पव सुगधि स्त्री पव और ऐषीक पव फूल का झरना है शान्ति पव फल है अश्वमेध पव फल का अमृत रस ह आश्रमवासिक पव वठ कर विश्राम करने की जगह है । मौसल पव रसा स्वाद की अनुभूति है । ससार के श्रेष्ठ कवि इस वृक्ष पर सदा अवलम्बित रहेंगे । यह वक्ष उनकी रचना का आश्रय होगा । यह भारतद्रुम पर्जन्य की तरह प्राणियो का अक्षय तृप्ति देने वाला होगा ।

महाभारतद्रुम का प्ररणा-स्रोत भी वक्ष है वह ऊध्वमूल अश्वत्थ है ।

ऊर्ध्वमूलमध शाखमश्वत्थ प्राहुरव्ययम ।
छन्दासि यस्य पर्णानि यस्त वद स वदवित ।।

(भीष्म प० ३९।१ श्रीमद्भगवद्गीता १५।१)

यह सृष्टि वृक्ष है ऊर्ध्व से नारायण अथ लिया जाता है । यह ऊर्ध्व मूल ऊपर नीचे इसकी शाखाएँ हैं । शाखा है ब्रह्मा छन्द अथात वेद प्रथम सिद्धान्त का ज्ञान ही इसका पत्र जाल है इसे जो जान ले वही वेदविद है । यह अव्यय है

अर्थात् बार-बार काटा जाता है बार-बार फिर बढ़ जाता है। इसकी शाखाएँ ऊपर-नीचे, चारो ओर फैली हुई हैं, सत्त्व रजस और तमस तीनो गुणा के प्रसार के रूप म और भाति भाति के ऐन्द्रिय विषय ही इसकी नयी कोपलें हैं, इसकी जड़ें एक-दूसरे से गुँथी हुई दूर तक चली गयी हैं कमजाल म बँधी हुई।

> अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
> गुणप्रवृद्धा विषयप्रवाला।
> अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
> कर्मानुबन्धीनि मनुष्य लोके॥
>
> (तदैव २)

इसी वृक्ष को बार-बार काटने की बात भी गीता मे मिलती है। इस अनासक्ति की तीक्ष्ण धार से इसे काटो तभी परमार्थ पद की तलाश कर सकोगे। यह बात कुछ परस्पर विरुद्ध लगती है कि अव्यय वक्ष को कैसे काटें और फिर क्यो काटें। काटने का अर्थ समझना है --अलग-अलग करके समझना है।

स्त्री पर्व मे विदुर के मुख से ससार वृक्ष पूरा गहन वन हो जाता है (स्त्री प० अध्याय ५)। हिंस्र पशुओ से समाकुल घोर अँधेरा कही राह नहीं, उस वन के चारो ओर एक जाल तना हुआ एक स्त्री उसके सूत्र हाथ मे लिये हुए। बड़े-बड़े सर्प वृक्षो से लटकते हुए, बीच म घास फूस म ढँका जाने कब का कुआँ। इस वन मे भटकते भटकते बिचारा यात्री कुएँ म गिर पडता है, पर लताओ मे फँस कर ऊपर अटक जाता है। पैर ऊपर सिर नीचे—उस कुएँ के ऊपर हाथी खडा, जिसके छ मुँह बारह पैर, आधा काला, आधा सफेद। और नीचे महानाग बैठा हुआ। लता वितान मे मधुमक्खियो के छत्ते से मधु टपक रहा है, यात्री भय से घिरा हुआ है देख रहा है जिस पेड की डाल मे अटका हुआ है, उसकी जड़ें काले और सफेद चूहे काट रहे हैं। मधुमक्खियाँ अलग भिनभिना रही हैं। पर मधु की तरस ऐसी है कि जाती नही, मृत्यु उपस्थित रहने पर भी।

> तपापश्यत् वन घोर समताद् वागुरावृतम्।
> बाहुभ्या सम्परिक्षिप्त स्त्रिया परमघोरया॥
> पचशीर्षधरैर्नागैं शैलेरिव समुन्नतैं।
> नभस्पृशैर्महावृक्षैं परिक्षिप्त महावनम्॥
> वनमध्ये च तत्राभूदुदपान समावृत।
> वल्लीभिस्तृणछन्नाभिर्दृढाभिरभिसवृत॥

पपात स द्विजस्तत्र निगूढे सलिलाशये ।
विलीनश्चाभवत् तस्मिन् लतासंतानसङ्कुले ।
पनसस्य यथा जात वृन्तबद्ध महाफलम् ।
स तथा लम्बते तत्र ह्यूर्ध्वपादो ह्यध शिरा ॥
अथ तथापि चान्योस्य भूयो जात उपद्रव ।
कूपमध्ये महानागमपश्यत् महाबलम् ।
कूपवीनाहवेलायामपश्यत् महागजम् ॥
ऐडूकम् कृष्ण शुक्ल च द्विषट्क पदचारिणम् ।
क्रमेण परिसर्पन्त वल्लीवृक्षसमावृतम् ।
तस्य चापि प्रशाखासु वृक्षशाखावलम्बिन ।
नाना रूप मधुकरा घोररूपा भयावहा
आसते मधु सवृत्य पूर्वमेव निकेतजा ।
तेषां मधूनां बहुधा धारा प्रस्रवते सदा ।
आलम्बमान स पुमान् धारां पिबति सर्वदा ॥
न चास्य तृष्णा विरता पिबमानस्य सङ्कटे
अभीप्सति तदा नित्यमतृप्त स पुन पुन ॥
(स्त्री० प० ५।८-२०)

विदुर ने रूपक को समझाते हुए बतलाया कि पेडो मे सटके हुए सॉप व्याधियाँ हैं, स्त्री जरा है, कुआँ देह है, भीतर फुफकारता हुआ नाग मृत्यु है, जिस लता मे यात्री लटका हुआ है, वह जीविताशा है, कुएँ के किनारे खडा हाथी सवत्सर है, ६ ऋतुएँ उसके मुख हैं, १२ महीने पैर, सफेद और काले चूहे दिन और रात हैं, मधुमक्खियाँ कामनाएँ हैं, मधु काम-रस है ।

(स्त्री० प०, अध्याय ६)

इस गहन कान्तार से और इस भयावृत कूप से उद्धार कोई दूसरा नही करता, स्वय ही करना पडता है ।

वृक्ष का यह अभिप्राय दोहरा अर्थ रखता है। यह छाया देता है, आश्रय देता है, फल देता है, रस देता है, पर यह यदि मोह बन जाय, आसक्ति बन जाय तो दुख देता है, यह भय का स्थान बन जाता है । वृक्ष न हो, कुआँ न हो, मधुस्रवा लता न हो तो निर्भय होने की अभिप्रेरणा कहाँ से मिले ? सृष्टि की सुन्दरता फँसाव बनने के लिए नहीं है, वह आमन्त्रण है जिसे स्वीकार करना चाहिए पर उसमें बँधना नही चाहिए । महाभारत भी एक दूसरे प्रकार का सृष्टि वृक्ष है जो आमन्त्रण देता है 'इसे ग्रहण करो' पर अपेक्षा रखता है कि इसमें किसी भी अश से बँध न जाओ। पूरे वृक्ष को देख लो, समझ लो, उसका फल

चख लो, उसके नीचे छाँव लो, पर चल पड़ो, शास्त्र सिर का भार न बने, शास्त्र को गति की प्रेरणा मानो, गति शास्त्र में नहीं है, तुम में है। शास्त्र अनुष्ठान की विधि देता है। अनुष्ठाता तो तुम हो।

श्रीकृष्ण ने अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए गीता के बारहवें अध्याय में अपने को भी अश्वत्थ कहा है, इसी से गाँवों में पीपल के पेड़ को वासुदेव कहते हैं। श्रीकृष्ण अपने प्रिय मित्र उद्धव को ज्ञान-दीक्षा देकर विदा कर देते हैं। यह नहीं कहते कि तुम मेरे पास पड़े रहो, मेरी सेवा करते रहो। गोपियों को महाभाव की दीक्षा देकर चले जाते हैं, उधर मुँह भी नहीं करते। इतने निर्मम हैं कि अर्जुन को युद्ध में प्रेरित करके, पग-पग पर रक्षा करके, विजय दिला करके एक ऐसी स्थिति में डालते हैं कि उनका गाण्डीव व्यर्थ हो जाता है, अस्त्र विद्या का गर्व चूर हो जाता है, जिस गांडीव की निन्दा वह युधिष्ठिर के मुँह से सुन कर उन्हें मारने के लिए उद्यत हुए, वही गांडीव बेकार हो जाता है। यह दोस्ती है या दुश्मनी। अर्जुन ने कहा भी कि हरि मुझ से छल करके चले गये और मुझे एकदम दाव बना कर रख गये, लुटने के लिए।

क्या अव्यय या अक्षर का यही कार्य है कि जो उसे साधने चले, उसका व्यय करा दे, उसका क्षरण करा दे, उसे बूँद-बूँद निचोड़ दे, तिल-तिल काट दे? यही कृपा है उस सनातन अव्यय भाव की? यह प्रश्न बार-बार मन को कुरेदता है और महाभारत से बड़ा डर लगता है, लगता है इस जंगल में तुम्हारी गाँठ में कुछ रह नहीं जायेगा, तुम्हारी पूरी तलाशी ली जायेगी, तुम्हारी नगा-झोरी कर दी जायेगी, तुम केवल तुम रह जाओगे, केवल तुम। श्रीमद्भगवद्-गीता वस्तुतः इसी प्रश्न का विस्तृत उत्तर है।

पश्चिम के विंटरनित्स जैसे विद्वानों ने श्रीमद्भगवद्गीता को स्वतन्त्र अर्थात् महाभारत से अलग ग्रन्थ माना है और सम्भावना की है कि बाद में इसे महाभारत में समाविष्ट कर लिया गया है। युद्ध में अठारह अध्याय सुनना-सुनाना असम्भव है और महाभारत का जीवन-दर्शन श्रीमद्भगवद्गीता से बिल्कुल अलग है, क्योंकि शेष महाभारत में श्रीकृष्ण का परब्रह्म प्रस्फुटित नहीं है। ये तर्क कितने बचकाने हैं, यह इसी से सिद्ध है कि इन लोगों ने काव्य को घटना विवरण या हूबहू अभिलेख मान लिया है। श्रीमद्भगवद्गीता महा-भारत के वाक्यार्थ के साथ अन्वित है, जैसा कि पहले मैं कह चुका हूँ, महा-भारतकार घटनाओं पर बहुत गहरे स्तर पर विचार करते हैं, उनकी दृष्टि में महाभारत की घटनाएँ तो पहले ही घट चुकी थी, वह देख चुके थे कि यह होने वाला है और घटनाओं के घट जाने के बाद भी उनकी दृष्टि में घटनाएँ अतीत नहीं हैं, वे वर्तमान हैं और भविष्यत् भी हैं। क्योंकि इति ह आस — ऐसा ही होता आया है, ऐसा ही होता जायेगा। व्यास नारायण, नर और नरोत्तम

की नित्य सम्भावना की विभूति के रूप मे अपने ग्रन्थ को देखते हैं। श्रीमद्-भगवद्‌गीता श्रीकृष्ण का उपदेश नही है, वह महाभारत की गहरी वास्तविकता का साक्षात्कार है, श्रीकृष्ण ही वह साक्षात्कार करा सकते हैं, अर्जुन ही वह साक्षात्कार कर सकता है और युद्ध की विभीषिका मे, मृत्यु की उपस्थिति मे, सामूहिक मृत्यु की उपस्थिति मे ही वह साक्षात्कार सम्भव हो सकता है। अर्जुन के हाथ से गाण्डीव जब तक खिसकने को न आये, जब तक शरीर का रोम-राम भयकर दावानल की लपटो से नही, उसके भय से जलने न लगे, जब तक भीतर का अभिमान चुक न जाय कि मैं यह कर सकता हूँ, मैं यह करूँगा, तब तक अव्यय भाव की दीक्षा ली नही जा सकती। परन्तु भय बडा होना चाहिए और उसका आघात ऐसा होना चाहिए कि लगे मैं ही नही, मेरा आस-पास, मेरे आस-पास के लोग सब जलने जा रहे हैं। अर्जुन का निर्वेद छोटे नर का निर्वेद नही है। नरोत्तम के सहचर नर का निर्वेद है। निर्वेद तो दुर्योधन को भी होता है, जब युधिष्ठिर उसे—उसके जीवन को गन्धर्व-राज चित्रसेन के बन्धन से छुडवा देते हैं, जब कर्ण पहले ही पलायन कर चुके हैं। चित्रसेन गन्धर्व ने अर्जुन से स्पष्ट कहा कि दुर्योधन पाप-बुद्धि से वन मे आया, मैंने तुम लोगो के हित की कामना से बाँधे रखा है, पर युधिष्ठिर की आज्ञा से अर्जुन ने उन्हें छुडाया और जब दुर्योधन युधिष्ठिर के सामने गये तो युधिष्ठिर ने इतना ही कहा

> मा स्म तात पुन कार्षीरीदृश साहस क्वचित्
> न हि साहसकर्तार सुखमेधन्ति भारत ॥
> स्वस्तिमान् सहित सर्वैर्भ्रातृभि कुरुनन्दन ।
> गृहान् व्रज यथाकाम वैमनस्य च मा कृथा ।
>
> (वन प० २४६।२२-२३)

"भाई, तुम ऐसा दुस्साहस न करना, इस प्रकार के दुस्साहस करने वाले कभी सुखी नही होते, स्वस्ति भावना ले कर भाइयो के साथ जब घर जाना चाहो जाओ, मन मे वैमनस्य भाव न रखना"। दुर्योधन को युधिष्ठिर की यह निश्छल उदारता बडी भारी पडी। लौटे रास्ते मे कर्ण ने बधाई दी कि तुम गन्धर्वों को जीत कर आ गये, दुर्योधन से कहा कि गन्धर्वों ने मुझे, साथ की स्त्रियो का बाँध रखा था, उसी रूप म उन्होंने हम युधिष्ठिर को सौंपा। जिनका मैंने जीवन भर तिरस्कार किया, जिनसे मैं शत्रुता करता रहा, उन्होंने ही मुझे छुडाया, मुझे प्राण-दान दिया। युद्ध मे मैं मारा जाता तो कहीं अच्छा होता, इस प्रकार शत्रु से प्राण-दान पा कर जीना तो जीना नही है। मैं यहीं उपवास करके प्राण छोड दूँगा, तुम लोग लौट जाओ।

स्त्रीसमक्षमह दीनो बद्ध शत्रुवश गत ।
युधिष्ठिरस्येपहृत किन्तु दु खमत परम् ॥
ये मे निराकृता नित्य रिपुर्येषामह सदा।
तैर्मोक्षिताह दुर्बुद्धि दत्त तैरेव जीवितम् ।
प्राप्त स्या यद्यह वीर वध तस्मिन् महावने।

(वन प० २४९।६-९)

दु शासन, कर्ण, शकुनि सभी समझाते है, पर दुर्योधन ने मरने का निश्चय कर लिया तो कर लिया। इतने मे दानवी शक्तियो को चिन्ता हुई, उन्होने कृत्या का अनुष्ठान किया, कृत्या पैदा हुई, उससे कहा कि जाओ दुर्योधन को लाओ। दुर्योधन को सम्बोधित करके उन्होंने कहा—तुम आत्महत्या क्यों करते हो, बड़ा तप करके हमने महेश्वर से तुम्हे पाया, तुम्हारे शरीर का ऊपरी भाग वज्र है। पृथ्वी पर तुम्हारी सहायता करने के लिए हजारो दानव तैयार है। देवताओ को तो पाण्डव सहारा मिले हुए हैं, पर हमारी गति आप हैं, आप हमे ऐसे छोड देंगे ? हम अनेक वीरो के भीतर कायनानुप्रवेश करेंगे। कर्ण के भीतर तो नरकासुर की आत्मा पहले से ही प्रविष्ट हो चुकी है। और आप पाण्डवो का वध कर सकेंगे। दुर्योधन का कृतक वैराग्य नष्ट हो गया (वन पर्व, २५२ अध्याय) क्योंकि वह वैराग्य और उसकी लज्जा दोनो क्षुद्र थे, उसके मन मे विपुल था ही नही। दुर्योधन के लिए धर्म भी यही था कि इसके छल से मैं जनमत अपने पक्ष मे करूँ। पाण्डवो की जो छवि बनी हुई है, उससे अधिक अच्छी छवि बनाऊँ, लोग उन्हें भूल जायें। वह यज्ञ करता है, दान देता है, राज्य की व्यवस्था करता है, यज्ञ मे युधिष्ठिर को निमन्त्रण भी पठाता है, परन्तु उसके सारे व्यापार ईर्ष्या के कलुष से प्रेरित हैं। उसका मन विपुल की चिन्ता कर ही नही सकता। दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद् मे यही तो अन्तर है कि दैवी सम्पद् आर्जव (सिधाई) नही छोड सकती, इसीलिए उसे अधिक क्लेश होता है। दैवी सम्पद् जिसे मिलती है, उसका स्वभाव अलग होता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इसकी पहचान करायी, तुम इस अन्तर को समझो, तुम दैवी सम्पद् लेकर पैदा हुए हो, दैवी सम्पद् का लक्षण है—अभय, अन्त करण की निर्मलता, ज्ञान और एकाग्रचित्तता, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, (दूसरो की निन्दा से विरक्ति), भूत दया, अलोलुपता, मृदुता, लज्जा और अचापल (चपल चेष्टा से विरक्ति), तेज, क्षमा, धैर्य, अद्रोह, अपने भीतर पूज्य और सम्मान्य होने का भाव न होना। इसके उलटे आसुरी सम्पद् की विशेषता है, दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, परुषता और अज्ञान।

अभय सत्वसशुद्धि ज्ञानयोगव्यवस्थिति ।
दान दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आजवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग शांतिरपैशुनम ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्व मादव ह्रीरचापलम् ॥
तेज क्षमा धृति शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पद दैवीमभिजातस्य भारत ॥
दम्भो दर्पोभिमानश्च क्रोध पारुष्यमेव च ।
अज्ञान चापि जातस्य पार्थसम्पदमासुरीम ॥
दवी सम्पद विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुच सम्पद दवीमभिजातोसि पाण्डव ॥

(भीष्म पव ४०।१ ५)

(श्रीमदभगवदगीता १६।१ ५)

दुर्योधन और कण का मोहावेग आसुरी सम्पत्ति का मोहावेग है। इस मोहावेग म इसी प्रकार का चिन्ता चक्र चलता है। आज यह पाया, कल यह पायेंगे आज मेरे पास इतना है कल इतना और होगा। मैंने उस शत्रु को मार दिया कल दूसरो को नष्ट करूँगा। मैं ईश्वर हूँ सिद्ध हूँ बलवान हूँ और सुखी हूँ।

इदमद्य मया लब्धमिम प्राप्स्ये मनोरथम ।
इदमस्तीदमपि भविष्यति पुनर्धनम ॥
असौ मया हत शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोहमह भोगी सिद्धोह बलवान सुखी ॥

(भी० प० ४०।१३ १४)

(श्रीमदभगवदगीता १६।१३-१४)

इसके विपरीत दैवी सम्पत्ति मे मेरा यह हो जायेगा वह हो जायगा मैं प्रभु हूँगा, दूसरे दानव होंगे ऐसा भाव नही होता पर यह भी नहीं होता कि उत्थान या उद्यम की बात या पराक्रम की बात व्यथ हो जाती है। बस अपना क्षुद्र स्वार्थ के लिए न हो अपना धन सबका धन न हो अपना धन सबका धन हो प्रभु और प्रभुता का सम्बन्ध न हो सहभोक्ता सहकर्मा का सम्बन्ध हो होने का भाव हो पाने का भाव न हो।

उत्थातव्य जागृतव्य बोधितव्य मुहुर्मुहु ।
भविष्यतीत्येव मन कृत्वा सततमव्यथ ॥

सजग रहते हुए सम्पूर्णता की समझ रखते हुए उद्यत हो अविचल मन से भावे

कि कार्य हो कर रहेगा। जिसको पा कर दूसरे जियें, समस्त प्राणी जियें, उसी का जीवन सार्थक है, उस वृक्ष की तरह जिसके फल पक गये हैं—

> यमाजीवन्ति पुरुषं सर्वभूतानि संजय ।
> पक्वं द्रुममिवासाद्य तस्य जीवितमर्थवत् ।।
> (उ० प० १३३।४३)

दुर्योधन से कहीं अधिक कई बार धृतराष्ट्र टूटते है, पर उनका भी टूटना अपनी छोटी आशा तक सीमित रहता है, विदुर और व्यास उनसे कितनी बार कहते हैं, पुत्रमोह में तुम न्याय और धर्म की वृद्धि का परित्याग कर रहे हो। संजय तो उन्हें श्रीकृष्ण तत्त्व का उपदेश भी देते है कि इस विराट् सत्य को समझो, परन्तु उनकी बुद्धि फिर नारायण भाग से अलग बहक जाती है, इसीलिए वह मनुष्य के शरीर में मर्त्यतमता की अवधारणा नहीं कर सकते। वह मनुष्य जन्म को ही धिक्कारते है कि सब दुःख तो इस मनुष्य देह के कारण है, और इस मनुष्य देह के जुड़े मानुष्य भाव (ममता) के कारण है।

> धिगस्तु खलु मानुष्यं मानुषेषु परिग्रहे ।।
> यतोमूलानि दुःखानि सम्भवन्ति मुहुर्मुहुः ।।
> (स्त्री० प० ८।१६)

वह अन्धे वस्तुतः इस माने में अधिक हैं कि सब कुछ देख कर भी नहीं देख पाते। अन्त में आश्रम में रहते हुए भी तब तक गत-मोह नहीं होते जब तक व्यास उन्हें उनके पुत्रों का दर्शन नहीं करा देते, और तभी वह सब मोह छोड़ कर कठोर तप से अग्नि धधकाते है और उसी में आत्मसात् हो जाते है।

दुर्योधन, धृतराष्ट्र, अर्जुन और युधिष्ठिर दैवी सम्पद् में उत्तरोत्तर समृद्ध हैं, वे वस्तुतः मनुष्य की चेतना के विकास के चार स्तर है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ही क्यों उपदेश दिया, उसका एक कारण है। वह नर के सुहृद् हैं, वह इन्द्र के अंश के प्रति इसलिए सदय हैं कि इन्द्र नरत्व या पौरुष या पराक्रम के देवता हैं, साथ ही अन्तरिक्ष के देवता हैं, भीतरी उथल-पुथल के देवता हैं। ऐसे सक्रिय चित्त में ही पात्रता आती है विपुल का भाव प्राप्त करने की। युधिष्ठिर नर की भूमिका से ऊपर उठे हुए हैं, वह विपुल-भाव प्राप्त कर चुके हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथि बनते है, उपनिषदों की भाषा में सोचें तो उलटी भूमिका है। इन्द्रियाँ जहाँ घोड़े हों, शरीर रथ हो, आत्मा रथी हो और बुद्धि सारथि, उसमें अलग यहाँ बुद्धि ही और वह भी मर्शित बुद्धि रथी है, आत्मा सारथि है। पर यही वाञ्छनीय भूमिका है। बुद्धि का सारथि होना साधारण व्यक्ति के लिए ठीक है, जिसे महाभारत में न लड़ना हो। महाभारत अर्थात् सम्बन्धों के महाजाल में से निकलना हो, उसमें बुद्धि के सारथि होने से काम नहीं चलेगा, वहाँ आत्मा को सारथि बना कर बुद्धि को के द्रस्थ होना पड़ेगा। श्रीकृष्ण ऐसे रथी के

सारथि हैं जो उनका अनुगत है, उसे निरन्तर यह प्रतीति है कि मैं श्रीकृष्ण का अनुगत हूँ। वह उपदेश देने का समय चुनते हैं, या समय ही उपदेश का क्षण चुनता है, अनुगत होने की भावना ऐसी तीव्र हो कि लगे, और कोई उपाय नहीं है, तब उस अनन्य अनुगत को पात्रता मिलती है। श्रीमद्भगवद् गीता को उपनिषद् रूपी गउओं का दुग्ध कहा गया है, श्रीकृष्ण दुहने वाले हैं और अर्जुन बछड़े हैं जिनके मुँह हुए बिना या जिनके लिए गउओं के आकुल हुए बिना, जिनके कारण गउओं के पिन्हाये बिना दूध नहीं उतरता। उपनिषद् रहस्य विद्या है, जीवन-मृत्यु के रहस्य का अनुसंधान है, पोथी द्वारा नहीं, आचार द्वारा, एकाग्र ध्यान द्वारा या ऋषियों की सेवा के द्वारा। वह जड़ ज्ञान नहीं है, वह सजीव ज्ञान है जो वत्सभाव का साकांक्ष है। आकुलता जब दोनों ओर से हो तभी दूध उतरेगा। महाभारत में गुरु, पितामह, भाई-बन्धु, रिश्तेदार सामने हैं और दिख रहा है कि महाकाल का नृत्य होने वाला है, तभी वह पारस्परिक ज्ञान जो लुप्त-सा हो गया, पात्र पाता है अर्जुन में। अर्जुन ऐसे पात्र के, अर्जुन ऐसे जिज्ञासु के बिना गीता का उपदेश असम्भव है। अव्ययभाव की सिद्धि व्यय की चिन्ता, महान् व्यय की चिन्ता से गुजरे बिना कैसे सम्भव है ? अव्यय का अर्थ ही है व्यय के बाद—दिखने में सब कुछ व्यय हो जाने के बाद—कुछ बच रहना, अपने भाव का बच रहना।

परन्तु यह सिद्धि एक सोपान से दूसरे सोपान पर चढ़ते हुए मिलती है यकायक नहीं, यकायक मिले तो आदमी उसे ले कर ढह जाय। इन सोपानों का क्रम इस प्रकार है पहले छः अध्यायों में त्वं अर्थात् साधारण जीव की समस्या उभारी जाती है, बीच के छः अध्यायों में तत् अर्थात् परब्रह्म की परम अपेक्षा' पर बल दिया जाता है और अंतिम छः अध्यायों में असि अर्थात् 'त्व' ही 'तत् है, इस ऐक्य या तादात्म्य की सिद्धि करायी जाती है। इस जीवन संघर्ष में रहते हुए, प्रपंच में रहते हुए जीवन का अव्यय भाव सीखा जाय तो सीखना है जैसा कि लोकमान्य तिलक ने कहा है—'ज्ञान भक्ति युक्त कर्मयोग ही गीता का सार है, उपनिषदों में वर्णित अद्वैत वेदान्त का भक्ति के साथ मेल करके उसके द्वारा बड़े-बड़े कर्मवीरों के चरित्रों का रहस्य या उनके जीवन-क्रम की उपपत्ति बतलाना ही गीता का सच्चा तात्पर्य है भगवान् ने ऐसे ज्ञानमूलक, भक्ति प्रधान और निष्काम कर्म विषयक धर्म का उपदेश गीता में किया है कि जिसका पालन आमरण किया जाय, जिससे बुद्धि, प्रेम और कर्तव्य का ठीक-ठीक मेल हो सके, मोक्ष की प्राप्ति में कुछ अंतर न पड़े और लोक-व्यवहार भी सरलता से होता रहे।' (श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य—हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ४६३)।

पहले अध्याय में जीवन विषाद है' दूसरे अध्याय में उसका मिथ्या ज्ञान है, उसको काटने के लिए तर्क दिये जाते हैं, तीसरे में कर्म की अपरिहार्यता

समझाई जाती है। चौथे में कर्म के दोष को दूर करने के लिए ममकार के त्याग की आवश्यकता बतलायी जाती है। इस अभ्यास पर बल दिया जाता है कि सोचना बन्द करो, मेरा हाथ है, मेरा द्रव्य है, बस सोचो, न मम न मम, कुछ भी मेरा नहीं। पूजा भी मेरी नहीं। संक्षेप में इस अध्याय में कर्ममात्र को यज्ञ बनाने पर बल है, यज्ञ के अर्थ का विस्तार है जिससे यज्ञ-व्यापार ही ब्रह्म हो जाय। पांचवें अध्याय में ब्रह्मार्पण के अभ्यास के बाद कर्म का सम्यक् न्यास समझाया जाता है, कर्म को ठीक जगह धरोहर के रूप में न्यास के रूप में रख दें, वह धरोहर सबकी हो जाय, इसके बिना केवल त्याग कितना भी प्रशंसनीय क्यों न हो सर्वजन मार्ग नहीं हो सकता। परंतु यह कर्म सयास सब में एक ही है, यह बुद्धि आये बिना सम्भव नहीं होता, अतः समत्वयोग का उपदेश किया जाता है। समत्व का अर्थ आज के अर्थ में समानता नहीं है, गीता का आचार शास्त्र समानता की मूलवत्ता समता (अर्थात् तादात्म्य अर्थात् सब में एक चैतन्य के प्रवाह का अनुभव) अधिक मूल्यवान समझता है। इस समता के बिना सर्व से सर्वात्मा में जुड़ना सम्भव नहीं होता, इसके बिना कार्य में कुशलता भी नहीं आती। जो आदमी करता है, उसे तभी ठीक तरह से कर सकता है, जब वह इस बुद्धि से करे कि यह कार्य, यह रचना, यह शिल्प, यह खेती, यह व्यापार, यह धन्धा अकेले मेरे लिए नहीं है, अकेले मेरा नहीं है, यह सब के लिए है, इसे सब के लिए उपयोग्य होना चाहिए। इसे उत्कृष्ट होना चाहिए। यह समता आत्म संयम से अपने को आहार-विहार में संयत रखने से और अपने को अपनी अपेक्षा से इधर-उधर भटकने से रोकते हुए सधती है। तब आदमी स्व तत्त्व साहस कर सकता है कि तत् तत्त्व में अभिमुख हो।

सातवें से बारहवें अध्याय तक ब्रह्म परिचय को घनिष्ठ किया जाता है। पहले ब्रह्मनिष्ठा जगत् में कैसे प्रतिफलित होती है, यह सातवें अध्याय में निरूपित है। जल में रस, सूर्य में प्रभा, वेदों में ओंकार, आकाश में शब्द, पृथिवी में गन्ध, प्राणियों में प्राण, तपस्वियों में तप, बलशालियों में बल, (शुद्ध बल—काम और राग से विवर्जित बल), धर्म का अविरोधी काम यह सब ब्रह्म है। 'वासुदेव सर्वमिति' सब कुछ वासुदेव है, ऐसा समझ कर भजने वाला सबसे अधिक दुर्लभ होता है। वैसे तो जिस प्रकार की श्रद्धा से, जिस अंश को भजता है, उसकी पूर्ति होती है, परन्तु वास्तविक पूर्ति तो कृत्स्न (सम्पूर्ण) को भजने से ही होती है। जो अंश को भजता है, उसकी पूर्ति मात्र होती है। इसी बिन्दु पर सशय होता है। क्या क्षर, क्या अक्षर, क्या अन्त, क्या शान्त और मृत्यु पहले अध्याय में भय रूप द्वार बन कर आयी थी, अब आठवें में पराव बन कर आती है जीवन की ? मृत्यु का क्षण पूरे जीवन का हिसाब है। जो जीवन में पूर्ण के साथ सध गया, वह मृत्यु के क्षण में सधा दिखता है, शान्त दिखता है, जिसे वह

मृत्यु के क्षण आता है वही उसका जीवन बनना है, क्योंकि मृत्यु ही जीवन की निरन्तरता की सही पहचान कराने वाला सूत्र है। इसी अध्याय में दो प्रकार की गतियाँ निरूपित हैं—एक लौटने वाली, एक न लौटने वाली।

नवें अध्याय में न लौटने वाली गति का उपाय है जिसे पाकर मृत्यु के ससार में न आना पड़, जीवन के अनन्त में एकाकारता हो जाये। यही बात स्व से तत की ओर मुड़ती है सब को, अनन्त को मुझ में देखो, मैं अलग-अलग सब में नहीं हूँ। मत्स्थानि सवभतानि न चाह् तेष्ववस्थित'। जो लोग मुझ शरीरी मानते हैं वे मेरा प्रभाव, निरपेक्ष परभाव नहीं जानते। वे मेरा सब के लिए होना यह सनातन अव्यय भाव अच्युत भाव नहीं समझते। जो मेरा पर भाव जानते हैं, उन्हें यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीकृष्ण ही क्रम हैं क्रम की स्वाधीनता हैं मन्त्र हैं, घी की आहुति हैं, यज्ञ है इज्य हैं यजमान हैं। जो लोग इस दृष्टि से अनन्य दृष्टि से श्रीकृष्ण तत्त्व को पाना चाहते हैं वे श्रीकृष्ण की चिन्ता बन जाते हैं। दसवें अध्याय में ब्रह्म की व्यापकता विभूतियों के उप देश में प्रमाणित होती है, समस्त सारवान वस्तु श्रेष्ठ वस्तु ब्रह्मरूप है उसकी *आर खिंचे तो यह अनुभव करते खिंचे कि हम ब्रह्माभिमुख हो रहे हैं।* परन्तु अर्जुन को अभी आधा-आधा ही दिख रहा है विभक्त विभक्त दिख रहा है। वह सम्पूर्ण विराट का दर्शन करना चाहते हैं और क्रमिक सोपान से श्रीकृष्ण उन्हें विराट विश्व रूप का दर्शन कराते हैं ग्यारहवाँ अध्याय श्रीमद्भगवद्गीता का सबसे अधिक काव्यमय अंश है। यह रूप दु सह है, इसमें अनेक एक हो गये हैं।

> अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
> अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥
>
> (श्रीमद्भगवद्गीता ११।१०)

जिसमें अनन्तता विश्वतोमुख हो सब ओर अनन्तता हो और हजार सूर्य एक साथ उदित हों उनकी जैसी आभा हो वैसी आभा एक साथ उदित हो गयी हो ऐसा है यह रूप।

> दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद युगपदुत्थिता।
> यदि भा सदृशी सा स्याद भासस्तस्य महात्मन॥
>
> (तदैव १२)

उसी शरीर में अनेक और विभक्त एकस्थ और पूर्ण हो गये हैं (तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा)। इस रूप में सब समाते जा रहे हैं, मारे वीर इसके

कराल वक्त्र म ऐसे समा रहे है जैसे पतिगे दीपक के प्रकाश मे समाते हैं एक विचित्र आकर्षण है काल का। अर्जुन को विश्व रूप अभिभूत कर देता है वह विराट का साक्षात्कार करके भी विराट की अनात्मीयता नही चाहता वह अनात्मीयता से घबराता है तुम पुत्र के लिए पिता ही बन कर उपस्थित हो मित्र के लिए मित्र बन कर हो रहो प्रिय के लिए प्रिय हो कर रहो तभी तुम वहन किये जा सकते हो, इस रूप मे तुम्हे वहन करना तुम्हे सँभालना सम्भव नही है

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्यु ।
प्रिय प्रियायार्हसि देव सोढुम ॥

(तदैव ४४)

विश्व रूप के दर्शन स श्रीकृष्ण और आत्मीय हो जाते हैं और तब अर्जुन उनस तादात्म्य प्राप्त कर सकते हैं। इसकी पात्रता बारहवे अध्याय म दृढ होती है। तब श्रीकृष्ण कहते हैं कि अनन्य भाव स मुझे भजो पर आवश के साथ भजो मैं तुम्हे मृत्यु ससार से खीच कर सनातन जीवन म प्रवेश करा दूगा।'

तेषामह समुद्धर्ता मृत्युससार सागरात ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम ॥

अब आता है तीसरा सोपान जिसम तादात्म्य की प्रक्रिया का निरूपण होना है उस प्रक्रिया की बाधाओ का भी वणन होता है उसके भटकावो का भी वणन होता है। तेरहवें मे मनुष्य के शरीर को महत्त्व दिया जाता है यही क्षत्र है भगवान इसी को पा कर क्षेत्रज्ञ हैं, इन दोनो को जोडो इस शरीर से उन्हे साधो। चौदहवें अध्याय से बाधाओ का वणन है तीनो गुण बाधक हैं सत्त्व भी बाधक है सुख और ज्ञान भी बाधक है। जब तक मनुष्य इन गुणो को अपने से अपनी वास्तविकता से अलग नही देखता तब तक वह भक्तियोग से ब्रह्म कैसे होगा? इसी से पद्रहवें अध्याय म विराग अनासक्ति का मन्त्र बताया जाता है कि तुम ऊध्व मूल जगत रूपी अश्वत्थ को नीचे से नही ऊपर से काटो त्रिगुणात्मिका प्रकृति के बधन को काटो, जगत जगत वक्ष नही रहेगा तब केवल ब्रह्म ही ब्रह्म रहेगा। शेष तीन अध्यायो मे तीन गुणो के तीन स्तरो का वणन है क्योंकि उस स्तर की पहचान करके ही उससे पार पाया जा सकता है वृक्ष की जड जान कर ही उसे काटा जा सकता है और वक्ष की सम्पूणता को जाना जा सकता है। इन तीन अध्यायो म विभिन्न स्तरो के ज्ञान, दान, तप, श्रद्धा बुद्धि धैर्य और सुख

की परिभाषाएँ दी गयी हैं, इसलिए नहीं कि मूल्यों का तारतम्य, ऊँच-नीच दिखाया जाय, प्रत्युत ठीक इसके उलटे इसका उद्देश्य यह है कि इन स्तर भेदों को एक ही विराट् व्यापार का अंग समझने की अभेद बुद्धि, अतिक्रामी अभेद की बुद्धि विकसित हो, भेदों की सतही वास्तविकता की प्रतीति के साथ-साथ अभेद की सही वास्तविकता की प्रतीति हो। भूत के रूप में, अतीत के रूप में या सिद्ध रूप में वस्तु को देखते हैं, उसके सादि और सान्त रूप में किसी वस्तु को देखते हैं, उसके इतिहासबद्ध रूप में किसी वस्तु को देखते हैं, किसी समाज को देखते हैं, तो वह भिन्न है, अनेक है, और उसका भिन्न होना, अनेक होना, विलग होना स्वाभाविक है। पर जब हम वस्तु को भाव रूप में सतत होने की प्रक्रिया में वर्तमान रूप में देखते हैं, उसके सनातन प्रवाही रूप में देखते हैं तो उसकी तथता, उसकी वास्तविकता को देखते हैं, उसके न चुकने वाले सनातन स्वरूप को देखते हैं। वही देखना दीखना है, 'सर्वभूतेषु येनेकं भावमव्ययमीक्षते।' इसलिए श्रीकृष्ण का अन्तिम उपदेश है कि भूतों को छोड़ो, वर्तमान को सतत वर्तमान रूप मुझे देखो, मेरी शरण में आओ। तुम एक विराट् सत्य के लिए लड़ो, तुम्हारे कर्म का दायित्व मेरा होगा, जिससे लड़ रहे हो, उसे अपना वैरी न मानो, जिसके साथ कन्धा मिलाकर लड़ रहे हो उसे अपना प्रिय न मानो, जीवन के परम सत्य को तुम अनासक्त युद्ध द्वारा प्राप्त करो। एक बड़े ताने-बाने में सचेत और सक्रिय रूप में रंग बनो, पर इस भाव से कि यह रंग तुम न रहे, यह हम हो जाय। सत्रहवें अध्याय में अर्जुन ने पूछा कि शास्त्र-विधि छोड़कर जो श्रद्धा करे उसकी क्या गति है क्योंकि उसके उत्तर में श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा था कि ॐ तत्सत् यह ब्रह्म का निर्देश है, जो अश्रद्धापूर्वक यज्ञ किया जाय, दान दिया जाय, तप किया जाय वह शास्त्र भावन व्यापार है और भावन विहित होता हुआ भी असत् है। श्रद्धा का महत्त्व इसलिए है कि वही पुरुष का *व्यापार ही पुरुष है। श्रीमद्भगवद्गीता का मूल उपदेश है तुम होना सीखो,* धीरे धीरे रात्र कुछ होना सीखो, सब कुछ होने का अन्तिम उपाय है, छोटे धर्मों का त्याग, बड़े धर्म का एकान्तिक वरण। वह बड़ा धर्म और कुछ नहीं, अव्यय भाव है, अच्युत भाव है, वही श्रीकृष्णभाव है, क्योंकि श्रीकृष्ण इतने व्ययशील समाज में अकेले अव्यय हैं, क्योंकि वह जड़ ब्रह्म नहीं हैं, वह ब्रह्मार्पण हैं, घोर आंगिरस से दीक्षा प्राप्त प्राणसंशित जागरूक लोकानुग्रह के आचरण हैं। वह किसी के सगे नहीं और सब के हैं, सब में हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता का यह अव्ययभाव महाभारत में बिखरे हुए अनेक आख्यानों में मिलता है, महाभारतकार उन्हें इतिहास कहते हैं, इन सभी छोटे-छोटे इतिहासों में भाव प्रक्रियाओं में दो बातें समान रूप से मिलती हैं, कोई दुविधा में पड़कर प्रश्न करता है—कौन श्रेष्ठतर धर्म है? और एक व्यक्ति जो

अन्तर्द्वन्द्व से गुजर चुका है, उत्तर देता है, वह कभी ऋषि है, कभी देवता है, कभी मांस विक्रेता धर्म व्याध है, कभी पक्षी है, कभी सर्प है, कभी पशु है, वह कुछ भी हो, उसे स्मरण है कि वह जो कुछ हुआ है उसमें बड़े धर्म की प्रतिस्मृति कारण है, वह उसी की पूर्ति के लिए ऐसा हुआ है। महाभारत में कोई भी छोटा-बड़ा पात्र नहीं है जिसका भावान्तर न हुआ हो, कोई गन्धर्वराज से धृतराष्ट्र होता है, कोई वसु से भीष्म, कोई बृहस्पति से द्रोण, कोई कलि से दुर्योधन, धर्म से युधिष्ठिर या कोई ऋषि के शाप से धर्म से शूद्रा में उत्पन्न विदुर, कोई ऋषि के शाप से महासर्प, सब को भाव की पूर्ति करनी है। स्वयं परम भाव रूप श्रीकृष्ण को पूर्ति करनी पड़ती है, गान्धारी के शाप की, दुर्वासा के शाप की। मदान्ध यादव जाति में जन्म लेने के कारण उनके विनाश की साझेदारी की। शान्ति पर्व के विभिन्न उपपर्वों में ऐसे अनेक इतिहास पिरोये हुए हैं। आश्वमेधिक पर्व में ऐसे कई इतिहास अनुगीता के रूप में संगृहीत हैं। अनुगीता का अर्थ ही है—गीता का अनुसरण करने वाली गीता। महाभारत में श्रीमद्भगवद्गीता सहृत और समग्र है, दूसरे प्रसंग उसी के एक-एक अंश को अलग-अलग उद्भासित करते हैं। अनुगीता में ब्रह्मार्पण या अपने व्ययशील संसार को अव्यय में रूपान्तर करने के भाव को कई रूपकों, मिथकों, कथानकों से स्पष्ट किया गया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। ब्राह्मण-ब्राह्मणी संवाद में यह आता है कि दस इन्द्रियाँ होती हैं। उनके विषय ही दस हवि हैं, समिधाएँ हैं, दस अग्नियों का हवन होता है, चित्त ही स्रुवा है, पवित्र ज्ञान ही वित्त है, यज्ञ का फल है जीवन रूप आत्मा। गार्हपत्य अग्नि है, वहाँ से आग लेकर मन रूपी आहवनीय अग्नि में आग धधकायी जाती है, उसी में आहुति पड़ती है मन्त्र के द्वारा, मन और वाक् का, अग्नि और सोम का मिथुनी भवन होता है अर्थात् मन और वाक् के इस संयोग से विश्वसत्य का संयोजन होता है।

> दशेन्द्रियाणि होतॄणि हवींषि दश भाविनि।
> विषया नाम समिधो हूयन्ते च दशाग्निषु ॥
> चित्तं स्रुवश्च वित्तं च पवित्रं ज्ञानमुत्तमम्।
> सुविभक्तमिदं सर्वं जगदासीदिति श्रुतम् ॥
>
> (आश्वमेधिक पर्व २१।५-६)

तथा—

> शरीरभृद् गार्हपत्यस्तस्मादन्यः प्रणीयते।
> मनश्चाहवनीयस्तु तस्मिन्नाक्षिप्यते हविः ॥
> ततो वाचस्पतिर्जज्ञे तं मनः पर्यवेक्षते।
> रूपं भवति वैवर्णं समनुद्रवते मनः ॥
>
> (वही ८-९)

मन के ताप से वाक आकृष्ट होती है मन को सयोजित करने वाली वाक आकृष्ट होती है और वाक के सयोग स मन अभिलप्त होकर विभ्रन होता है वह वर्णा त्मक वैखरीवणात्मक आकार ग्रहण करता है वह दूसरे के लिए निवदनीय बनता है। यही सृष्टि की साभिप्रायता है।

महाभारत क रचना कार न महाभारत की रचना कथा क लिए नहीं की उस पवित्र ज्ञान क यज्ञ के निरन्तर अभ्यास के लिए की जिस पा कर हजार माताएँ गभ धारण करती हैं। हजार पिता पोषण करत हैं हजार बार विवाह होता है पुत्र उत्पन्न होते हैं। य अनुभव के विषय बन चुके हैं बन रहे हैं बनगे हजारा हष के स्थान मिल मिलते हैं मिलेंगे हजारो शोक क स्थान भी य सभी आविष्ट नही करेंगे क्योकि तब इनम निजता का अभ्यास नष्ट हो जाएगा।

> मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
> ससारेस्वनुभूतानि यान्ति यास्यान्ति चापरे ॥
> हृषस्थानसहस्राणि शोकस्थानशतानि च ।
> दिवसे दिवसे मूढभाविशन्ति न पडितम ॥
>
> (स्वर्गारोहण प० ५।५६ ६०)

एस ज्ञान यज्ञ की सकल्पना करने वाल व्यासदेव क विशेषण मननीय हैं वे सत्य वादी मुनि हैं सत्यवती सुत हैं सवज्ञ हैं विधिज्ञ हैं धर्मज्ञ हैं सद्रूप हैं ब्रह्मनिष्ठ हैं अतीन्द्रिय हैं शुचि तप स भावितात्मा हैं ईश्वर हैं साख्यायोगवान् हैं एकागी दृष्टि से नही दिव्य चक्षु स दख कर उन्होन पुण्य इतिहास रचा।

(आश्व० प० ५।३६-३८)

महाभारत क सत्य का प्रवाह यह अव्यय भाव है जो एक ओर कगार तोडता है बहुत से अहकारो क ममकारा क, बहुत निममता क साथ दूसरी ओर आप्लुत होकर सूखे, बजर और उपक्षित क्षत्रा को रस स अनुभव कराता है कि तुम्हा म क्षत्रज है। स्पष्ट शब्दा म कहें सत्य का एक पक्ष है कठोर मुच्छेदक विध्वसक तापक बधक और खण्डक दूसरा पक्ष है करुण अनुराग सयाजक, अभिद्रावक सूत्रात्मा और परिपूरक। एक पक्ष छल का छल है दूसरा पक्ष करुण की करुणा, कृपा की कृपा। महाभारतकार इन दानो पक्षा के बीच म कभी भी आँख मिचौनी का खेल रचते हैं और तभी कभी कठोरता ही सही जान पडती है, कभी करुणा ही पर सही दाना मिल कर है। वह दुराव क अनेक स्थाना का पता लगाते हैं और उन्हें ममत्व भी दत है पर उन्हें उपरांत ममय वह बहुत ही अकरुण हो जाते

हैं क्योंकि उघारना ही करुणा है। वे देवताओं और असुरों को उतारते हैं पर उठाते हैं मनुष्य को जो अपने भीतर इन दोनों की सत्ता पहचान कर इनसे ऊपर उठता है। नरोत्तम के पास पहुँचने के लिए अनुशासन पर्व मे श्री के निवास के स्थल श्री के मुख से कहलाये गये है। वही पर श्री जिन स्थानों को छोड देती है उनका भी उल्लेख है। श्री धरित्री हैं नारायण के साथ एकचित्त हैं श्री और कुछ नही पार्थिव अस्तित्व की चरम साधकता हैं वे जिन स्थानों का परित्याग करती हैं वे सभी स्थान अल्पता वाले हैं अल्पता तेज मे बल म हो या तप्ति म हो वे सभी स्थान अलसता या क्षुद्रता के ही कारण क्लेश और कोप से आक्रान्त है, उन सभी स्थानो मे मूढता आक्रान्त किये हुए है। और जहा श्री रहती है वहा पूर्णता है परस्पर पूरकता है सरोवर हैं तो फूलो से फूल हुए शारदीय रात्रियाँ हैं तो नक्षत्रो से खची हुई नदिया हैं तो पक्षियो के कलरव को अपने कलरव से जोड हुए किनारे की वनराजियो स अनुच्छादित किनारे तपस्या के वातावरण से पवित्रित पानी से भरपूर परस्पर वैर भाव त्याग करके तृप्ति के लिए आते वाले प्राणिया से भरपूर—

वसामि फुल्लासु च पद्मिनीषु
नक्षत्रवीथीषु च शारदीषु।
गजेषु गोष्ठेषु तथासनेषु
सर सु फुल्लोत्पलपङ्कजेषु ॥
नदीषु हंसस्वननादितासु
क्रौंचावघुष्टस्वर शोभितासु ॥
विकीर्णकूलद्रुमराजितासु
तपस्विसिद्धद्विजसेवितासु ॥
वसामि नित्य सुबहूदकासु
सिंहैर्गजेश्चाकुलितोदकासु ।

(अनुशासन पर्व ११ १५ १७)

महाभारत इस श्री का सनातन निवास है। इसीलिए इसमे नारायण अपने आप आकृष्ट हो कर आदि से अन्त तक अभिव्याप्त हैं। कही विधि रूप म कही निषेध रूप मे, कही ज्ञान रूप म कही अज्ञान रूप म। पर वह जब नही हैं तब उनकी अनुपस्थिति सब कुछ अधकारमय कर देती है जब हैं तो सब प्रकाशमय कर देती है पर होने के कारण मनुष्य की नर की दीर्घ यात्रा वनवास पर्वतारोहण, दारुण अपमान छोटे विजय से उत्पन्न छोटे अहकार इन तमाम स्थितियो से गुजरने की प्रक्रिया भी है अनन्त जल म महाव्याल की शय्या पर सोये नारायण का

जगना ऐसे नहीं होता है, क्षीर समुद्र में पाताल्रान्त पृथ्वी की पुकार लहर बन कर आती है, आग धधकती है, एकायक एक कमल फूट पड़ता है और उसमें से स्रष्टा निकल कर नारायण का आह्वान करने लगते हैं, सृष्टि के धारक उठो, सृष्टि उद्वेलित है, कमल और कमल के साथ-साथ कमला धारित्री उद्वेलित है।

महाभारत के नारायण काव्य में स्रष्टा हैं कृष्ण द्वैपायन, कमल हैं सत्य, कमला हैं करुणा, अशेष अस्तित्व के प्रति करुणा, स्रष्टा के उद्देश्य की प्रतिपूर्ति हैं नर के साथी नरोत्तम की जय-यात्रा, कठिन जय-यात्रा, सर्वस्वापहारी जय-यात्रा।

परिशिष्ट

महाभारत काव्य-चयन

१ प्रश्नो के उत्तर

यक्ष-युधिष्ठिर सवाद (आरण्यक पर्व २६७)

> कि स्विदादित्यमुन्नयति के च तस्याभितश्चरा ।
> कश्चैनमस्त नयति कस्मिश्च प्रतिष्ठिति ॥ २६ ॥

यक्ष ने पूछा—"कौन है जो सूर्य को ऊँचे चढाता है, कौन है जो उसके चारो ओर चलते हैं, कौन है जो उसे अस्ताचल की ओर ले जाता है, कौन है जिसमे प्रतिष्ठित है ?"

> ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याभितश्चरा ।
> धर्मश्चास्त नयति च सत्ये च प्रतितिष्ठति ॥२७॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"ब्रह्म सूर्य को ऊँचे चढाता है, देवता उसे चारो ओर से घेर कर चलते हैं। धम (ऋत) उसे अस्त की ओर ले जाता है और सत्य सूय को प्रतिष्ठित करता है।"

> किमेक यज्ञिय साम किमेक यज्ञिय यजु ।
> का चैका वृश्चेत् यज्ञ का यज्ञो नातिवर्तते ॥३४॥

यक्ष ने पूछा—"वह कौन-सा साम है, जो सर्वश्रेष्ठ यज्ञ का साधन है, वह कौन-सा मत्र है जो अद्वितीय यज्ञ का साधन है, वह कौन है जो अकेली यज्ञ पर छायी रहती है, वह कौन है जिसका यज्ञ अतिक्रमण नही कर सकता ?"

प्राणो वै यजिय साम मनो वै यजिय यजु ।
वागेका वृश्चेत् यज्ञ ता यज्ञो नातिवर्तते ।।३५।।

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"प्राण ही यज्ञ का अद्वितीय साधन है, मन ही अद्वितीय मन्त्र है, वाणी ही यज्ञ की अद्वितीय छत्र है, वाणी ही यज्ञ की मर्यादा।"

किंस्विदापतता श्रेष्ठ किं स्विन्निपततां वरम् ।
किंस्वित्प्रतिष्ठमानानां किं स्वित्प्रवदतां वरम् ।।३६।।

यक्ष ने पूछा—"ऊपर से नीचे से गिरने वालो मे कौन श्रेष्ठ है, यज्ञ के अन्दर डाली जाने वाली वस्तुओ मे कौन श्रेष्ठ है, प्रतिष्ठितो मे कौन श्रेष्ठ है और किसकी बोली उत्तम है ?"

वर्षमापतता श्रेष्ठ बीज निपततां वरम् ।
गाव प्रतिष्ठमानानां पुत्र प्रवदतां वर ।।३६।।

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"जल की वृष्टि श्रेष्ठ है ऊपर से नीचे गिरने वालो मे, बीज श्रेष्ठ है पृथ्वी म डाली जाने वाली वस्तुओ मे, गौ श्रेष्ठ है वस्तुओ मे, और बोली उत्तम है पुत्र की।"

इन्द्रियार्थाननुभवन्बुद्धिमाल्लोकपूजित ।
समत सर्वभूतानामुच्छ्वसन्को न जीवति ।।३८।।

यक्ष ने पूछा—"वह कौन है जो समस्त इन्द्रियो से विषयो का उपभोग कर सकता है, बुद्धिमान है, पूज्य है, समस्त प्राणियो मे प्रतिष्ठित है, जो साँस लेते हुए भी जीता नही है ?"

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च य ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ।।३६।।

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"जो व्यक्ति देवता, अतिथि, भृत्य, पिता और अपनी आत्मा—इन पाँचो को यथायोग्य तृप्ति नही देता, वह केवल साँस लेता है, वह जीता नही।"

किंस्विद् गुरुतर भूमे किं स्विदुच्चतर च खात् ।
किंस्विच्छीघ्रतर वायो किं स्विद् बहुतर नृणाम् ।।४०।।

यक्ष ने पूछा—"पृथ्वी से भी अधिक गुरु कौन है, आकाश से भी अधिक ऊँचा कौन है, वायु से भी अधिक शीघ्रगामी कौन है, मनुष्यो के लिए कौन ऐसी वस्तु है जो सबसे अधिक शीघ्रता से बढती जाती है ?"

> माता गुरुतरा भूमे पिता उच्चतरश्च खात् ।
> मन शीघ्रतर वायोश्चिन्ता बहुतरी नृणाम् ॥४१॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"माँ पृथ्वी से गुरुतर है, पिता आकाश से ऊँचे हैं, मन वायु से अधिक द्रुतगामी है, और चिन्ता सबसे अधिक तेजी से बढती है ।"

> किं स्विदेको विचरति जात को जायते पुन ।
> किं स्विद्धिमस्य भेषज्य किं स्विदावपन महत् ॥४६॥

यक्ष ने पूछा—"कौन अकेले विचरण करता है, कौन उत्पन्न हो कर पुन उत्पन्न होता है, शीत की औषधि क्या है और सबसे अधिक बडा बीज धारण का क्षेत्र कौन-सा है ?"

> सूर्य एको विचरति चन्द्रमा जायते पुन ।
> अग्निर्हिमस्य भेषज्य भूमिरावपन महत् ॥४७॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"अकेला घूमने वाला सूर्य है, उत्पन्न होकर पुन उत्पन्न होने वाला चन्द्रमा है, अग्नि शीत की औषधि है, पृथ्वी सबसे बडा बीज धारण का क्षेत्र है ।"

> किं स्विदेकपद धर्म्यं किं स्विदेकपद यश ।
> किं स्विदेकपद स्वर्ग्यं किं स्विददेकपद सुखम् ॥४८॥

"धर्म का उत्तम स्थान कौन-सा है, यश का उत्तम स्थान कौन-सा है, स्वर्ग का उत्तम उपाय कौन-सा है और वह कौन-सा सुख है जो अद्वितीय है ?"

> दाक्ष्यमेकपद धर्म्यं दानमेकपद यश ।
> सत्यमेकपद स्वर्ग्यं शीलमेकपद सुखम् ॥४९॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"कुशलता ही धर्म का उत्तम स्थान है, दान ही यश का उत्तम स्थान है, सत्य से बडा स्वर्ग का कोई साधन नही और शील से बडा कोई सुख नही ।"

किं स्विदात्मा मनुष्यस्य किं स्विद्दैवकृत सखा।
उपजीवन किं स्विदस्य किं स्विदस्य परायणम् ॥५०॥

यक्ष ने पूछा—"मनुष्य की आत्मा क्या है, देवता का दिया हुआ मित्र कौन है, मनुष्य के जीवन का आलम्बन कौन है, और उसके जीवन का सबसे अच्छा आचरण कौन है ?"

पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृत सखा ।
उपजीवन च पर्जन्यो दानमस्य परायणम् ॥५१॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"पुत्र ही मनुष्य की आत्मा है, पत्नी ही देवताओ की दी सखी, मेघ ही जीवन का आलम्बन और दान ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ आचार है ।"

कश्च धर्म परो लोके कश्च धर्म सदाफल ।
किं नियम्य न शोचन्ति कैश्च सन्धिर्न जीर्यते ॥५४॥

यक्ष ने पूछा—"कौन धर्म है जो सबसे श्रेष्ठ है, कौन धर्म है जो सदा फलता रहता है, कौन है जिसको नियन्त्रण करने से शोक नही होता और कौन है जिनसे कभी जुड़ाव टूटता नही ?"

आनृशस्य परो धर्मस्त्रयीधर्म सदाफल ।
मनो यम्य न शोचन्ति सद्भि सन्धिर्न जीर्यते ॥५५॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"आनृशंस ही सबसे बड़ा धर्म है तीनो पुरुषार्थों का पालन ही सदा फल देने वाला धर्म है, मन का नियत्रण करने पर शोक का अवसर नही आता और सज्जनो का जुड़ाव कभी नही टूटता ।"

किं नु हित्वा प्रियो भवति किं हित्वा न शोचति ।
किंनु हित्वार्थवान् भवति किंनुहित्वा सुखी भवेत ॥५६॥

यक्ष ने पूछा—"किसे त्याग कर मनुष्य लोगो का प्रिय होता है, किसे त्याग कर उसे पछतावा नहीं होता, किसे त्याग कर मनुष्य अर्थवान होता है, किसे त्याग कर मनुष्य सुखी होता है ?"

मान हित्वा प्रियो भवति क्रोध हित्वा न शोचते।
काम हित्वार्थवान् भवति लोभ हित्वा सुखी भवेत् ॥५६ ॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"अभिमान त्याग कर ही सबको प्रिय होता है। क्रोध त्याग कर पछतावा नहीं होता, काम त्याग कर अर्थवान् होता है, लोभ त्याग कर सुखी होता है।"

मृत कथं स्यात्पुरुष कथं राष्ट्रं मृत भवेत्।
श्राद्ध मृत कथं च स्यात् कथं यज्ञो मृतो भवेत् ॥५८॥

यक्ष ने पूछा—"मनुष्य कैसे मृत होता है, राष्ट्र कैसे मृत होता है, श्राद्ध कैसे मृत होता है और यज्ञ कैसे मृत होता है?"

मृतो दरिद्र पुरुषोमृत राष्ट्रमराजक ।
मृतमश्रोत्रिय श्राद्ध मृतो यज्ञस्त्वदक्षिण ॥५९॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"दरिद्र हो जाय तो मनुष्य मृत होता है, राज्य व्यवस्था-हीन हो जाय तो राष्ट्र मृत हो जाता है, श्रोत्रिय-विहीन हो जाय तो श्राद्ध मृत होता है, दक्षिणाहीन हो जाये तो यज्ञ मृत हो जाता है।"

व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना यथातथ्य परन्तप।
पुरुष त्विदानीमाख्याहि यश्च सर्वधनी नर ॥६२॥

यक्ष ने कहा—"हे शत्रुजेता? तुमने मेरे प्रश्नो का ठीक-ठीक उत्तर दिया, तुम पुरुष की परिभाषा बताओ और सब प्रकार से सम्पन्न मनुष्य का लक्षण बताओ।"

दिव स्पृशति भूमि च शब्द पुण्यस्य कर्मण ।
यावत्स शब्दो भवति तावत्पुरुष उच्यते ॥६३॥
तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदु खे तथैव च।
अतीतानागते चोभे सर्व सर्वधनी नर ॥६४॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"पुरुष उसी अनुपात मे पुरुष है जिस अनुपात मे उसके पुण्य कर्मों का यश आकाश को छूता है, समस्त पृथ्वी को छूता है और जब तक उसके यश का गान रहता है, तभी तक वह पुरुष रहता है।

सबसे अधिक सम्पन्न वह है, जिसके सुख और दुख, भूत और भविष्यत् समान हो, जिसकी बुद्धि निश्चल हो।"

२ सनातन-गान

उद्योग पर्व (अध्याय ४५)
सनत्सुजात द्वारा धृतराष्ट्र को सनातन ब्रह्म का उपदेश

श्लोक १

यत्तच्छुक्र महज्ज्योतिर्दीप्यमान महद्यश ।
तद्वै देवा उपासन्ते यस्मादर्को विराजते ।
योगिनस्त प्रपश्यन्ति भगवन्त सनातनम् ॥

सनत सुजात बोले—जिसके प्रकाश से महान प्रकाश वाला सूय प्रकाशित होता है, वह शुद्ध ब्रह्म ज्योतिमय है, कीर्तिमान है, विशाल है। सब देवता उसी की उपासना करते हैं। उसी सनातन का दशन योगी को मिलता है।

श्लोक २

शुक्राद ब्रह्म प्रभवति ब्रह्म शुक्रेण वधते ।
तच्छुक्र ज्योतिषा मध्येऽतप्त तपति तापनम् ।
योगिनस्त प्रपश्यन्ति भगवन्त सनातनम् ॥

उस शुद्ध ज्योति मे हिरण्यगभ प्रजापति पैदा होते हैं, उसी से बढते हैं। वही ज्योतिर्मय ब्रह्म समस्त ज्योतियों को उजागर करता है और स्वय अनतपा रह-कर उन्हे तपाता है। उसी सनातन का दर्शन योगी को मिलता है।

श्लोक ३

आपोऽथ अस्य सलिलस्य मध्ये उभौ देवौ शिश्रियातेऽन्तरिक्षे।
स सध्रीचो स विषूजीवसप्ता उमे बिभर्ति पृथ्वीं दिव च ।
योगिनस्त प्रपश्यन्ति भगवन्त सनातनम् ॥

जल की भांति एक रस रहकर वह परब्रह्म जल के भीतर ईश्वर और जीव इन दोनो को धारण करता है। वही सबका आश्रय है। वही पृथ्वी और आकाश को धारण करता है। वही सबसे सम्मिलित है और सबसे दूर है। उसी सना-तन का दशन योगी को मिलता है।

श्लोक ४

उभौ च देवौ पृथिवीं दिव च दिशश्च शुक्र भुवन बिभर्ति ।
तस्माद्दिश सरितश्च स्रवन्ति तस्मात्समुद्रा विहिता महान्त ।
योगिनस्त प्रपश्यन्ति भगवन्त सनातनम् ॥

वही ज्योति ईश्वर और जीव को, पृथ्वी और आकाश को, समस्त दिशाओं को धारण करती है। उसी से समस्त दिशायें, समस्त नदियाँ, उसी से बड़े-बड़े सागर प्रकट हुए हैं। उसी सनातन का दर्शन योगी को मिलता है।

श्लोक ५

चक्रे रथस्य तिष्ठन्तं ध्रुवस्याव्ययकर्मण ।
केतुमन्तं वहन्त्यश्वास्तं दिव्यमजरं दिवि ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।

उस नित्य को न झुकने वाले भाव के अधिष्ठाता को शरीर-रूप-रथ के चक्र में स्थित सत्य को मन में जुते हुए इन्द्रिय रूपी घोड़े हृदयाकाश में खींचते हुए अजर लोक तक ले जाते हैं। उसी सनातन का दर्शन योगी को मिलता है।

श्लोक ६

न सादृश्ये तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम् ।
मनीषयाथो मनसा हृदा च य एवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।

उस ज्योति के सदृश कोई दूसरा रूप नहीं है। कोई उसे आँखों से नहीं देख सकता। उसे अपने मन से, मनीषा से जान सकता है। जो उसे जान लेता है, अमर हो जाता है। उसी सनातन का दर्शन योगी को मिलता है।

श्लोक ७

द्वादशपूगां सरितं देवरक्षिताम् ।
मधुईशन्तस्तदा संचरन्ति घोरम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।

वह इस संसार-रूपी नदी का मधुर जल है जिसमें दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि नावों के बेड़े की तरह तिर रहे हैं, जो देवताओं के द्वारा रक्षित है। पर उसमें डूबने वाले ही उस मधुर रस का आस्वादन कर सकते हैं। उसी सनातन का दर्शन योगी को मिलता है।

श्लोक ८

तदर्धमासं पिबति संचित्य भ्रमरो मधु ।
ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।।

जैसे मधुमक्खी पन्द्रह दिन मधु का संग्रह करती है, पन्द्रह दिन उसका आस्वाद लेती है, उसी तरह यह संसारी जीव इस जन्म के कर्मों का फल दूसरे जन्म में पाता है। वह सनातन इसी कर्मफल की व्यवस्था में रहता है। उसी सनातन का दर्शन योगी को मिलता है।

श्लोक ९

हिरण्यपर्णमश्वत्थमभिपत्य अपक्षकाः।
ते तत्र पक्षिणो भूत्वा प्रपतन्ति यथादिशम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥

सुनहले विषयों पर ललचाकर जो पंखहीन जीव उसकी आशा में दिशा-दिशा में उड़ते रहते हैं, उस तृष्णा में वह सनातन बसता है। उसी सनातन का दर्शन योगी को मिलता है।

श्लोक १०

पूर्णात्पूर्णान्युद्धरन्ति पूर्णात्पूर्णानि चक्रिरे।
हरन्ति पूर्णात्पूर्णानि पूर्णमेवावशिष्यते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥

पूर्ण से पूर्ण स्फुरित होता है। पूर्ण से पूर्ण निकालने चलते हैं तो पूर्ण ही बच रहता है। वह पूर्ण ही सनातन है। उसी सनातन का दर्शन योगी को मिलता है।

श्लोक ११-१२

तस्माद् वायुरायातस्तस्मिंश्च प्रयतः सदा।
तस्मादग्निश्च सोमश्च तस्मिंश्च प्राण आततः॥
सर्वमेव ततो विद्यात्तत्तद्वक्तुं न शक्नुमः।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥

उसी पूर्ण ब्रह्म से वायु आयु आविर्भूत हुआ और उसी के कारण वह बहता रहता है। उसी से अग्नि, उसी से सोम आविर्भूत हुआ। उसी में प्राण भरता रहता है। *कहां तक गिनाएं? सभी वस्तुएं उसी सनातन से परिपूर्ण हैं। उसी सनातन* का दर्शन योगी को मिलता है।

श्लोक १३

अपान गिरति प्राण प्राण गिरति चन्द्रमा ।
आदित्यो गिरते चन्द्रमादित्य गिरते पर ।
योगिनस्त प्रपश्यन्ति भगवन्त सनातनम् ॥

अपान प्राण मे निर्गीर्ण होता है। प्राण चन्द्रमा मे, चन्द्रमा आदित्य मे और आदित्य उस परम सनातन मे। उसी सनातन का दर्शन योगी को मिलता है।

श्लोक १४

एक पाद नोत्क्षिपति सलिलाद्ध स उच्चरन् ।
त चेत्सततमृत्विज न मृत्युर्नामृत भवेत् ।
योगिनस्त प्रपश्यन्ति भगवन्त सनातनम् ॥

इस ससार रूपी जल मे हस की तरह वह सनातन एक पर पानी मे रखता है, एक पैर ऊपर उठाये रहता है। यदि उसे उठा ले तो न मृत्यु रह जाये, न मोक्ष रह जाये। वह सनातन अमृत और मृत्यु का सन्तुलन है। उसी सनातन का दर्शन योगी को मिलता है।

श्लोक १६

सदा सदा सत्कृत स्यान्न मृत्युमृत कुत ।
सत्यानृते सत्यसमानबन्धने सतश्च योनिरसतश्चैक एव ।
योगिनस्त प्रपश्यन्ति भगवन्त सनातनम् ॥

वह सनातन सत् से असत् से दोनो से सत्कृत है। न वह मृत्यु है, न वह अमृत है। वह नित्य-नित्य है। सत्य और असत्य सब कुछ उस सनातन मे समान रूप से बँधे हुए स्थित है। वही सत की भी योनि है, वही असत् की भी योनि है। उसी सनातन का दर्शन योगी को मिलता है।

श्लोक २०

न साधुना नोत असाधुना वा समानमेतदृश्यते मानुषेषु ।
समानमेतदमृतस्य विद्यादेव युक्ते मधुतद्वै परीप्सेत् ।
योगिनस्त प्रपश्यन्ति भगवन्त सनातनम् ॥

न उसका सम्बन्ध पुण्य से है, न पाप से। यह विषमता केवल मनुष्य मे होती है। यह जानकर उसके सारे रूप मधु का आस्वादन करना चाहता है, वही अमृत होता है। उसी सनातन का दर्शन योगी को मिलता है।

श्लोक २१

> नास्यातिवादा हृदयं तापयन्ति नानधीतं नाहुतमग्निहोत्रम् ।
> मनो ब्राह्मी लघुमादधीत प्रज्ञानमस्य नाम धीरा लभन्ते ।
> योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥

ऐसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष के हृदय को कोई भी निन्दा अनुतप्त नहीं करती । न उसके मन में यह होता है कि मैंने स्वाध्याय नहीं किया, मैंने अग्निहोत्र नहीं किया । उसके मन में कोई भी छुटपन का भाव नहीं होता । उसे सनातन ब्रह्म का स्पर्श स्थिर ज्ञान देता है । उसी सनातन का दर्शन योगी को मिलता है ।

३ ललकार

उद्योग पर्व (अध्याय ३)

श्लोक ५

> न मया त्वं न पित्रासि जातः क्वाभ्यागतो ह्यसि ।
> निर्मन्युरुपशाखीयः पुरुषः क्लीबसाधनः ॥

तुम मेरी कोख से पैदा नहीं हुए । तेरे पिता ने भी तुझे उत्पन्न नहीं किया । तेरे जैसा कायर, अमर्षहीन, क्षत्रियों की शाखा के अयोग्य नाम मात्र का पुरुष कहाँ से पैदा हुआ जो हर प्रकार से नपुंसक है ।

श्लोक ६

> यावज्जीवं निराशोऽसि कल्याणाय धुरं वह ।
> मात्मानमवमन्यस्व मैनमल्पेन बीभरः ।
> मनः कृत्वा सुकल्याणं मा भैस्त्वं प्रतिसंस्तभ ॥

तुमने सदा के लिए जीवन भर के लिए आशा छोड़ दी ? उठो । कल्याण के लिए युद्ध की धुरी कन्धों पर उठा लो । अपने को दुर्बल मत मानो । अल्प से

संतुष्ट मत होओ। मन को शिवसंकल्प से जोड़ो। भय छोड़ो और प्रतिकार के लिए डट कर खड़े हो जाओ।

श्लोक ७

उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा शेष्वैवं पराजित ।
अमित्रान्नन्दयन्सर्वान्निर्मानो बन्धुशोकद ॥

हे कापुरुष ! उठो ! पराजित होकर ऐसे पड़े न रहो। ऐसे पड़े रह कर सभी शत्रुओं को तुम सुख पहुँचाओगे और सम्मान खोकर अपने बन्धुओं को शोक पहुँचाओगे।

श्लोक ८

सुपूरा वै कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलि ।
सुसंतोष कापुरुष स्वल्पकेनापि तुष्यति ॥

छोटी नदी होती है, जल्दी भर जाती है। चूहे की अंजलि थोड़े दानों से भर जाती ही है। कायर थोड़े से तृप्त हो जाता है।

श्लोक ९-१०

अप्यरेरारुजन्दंष्ट्रामाश्वेव निधनं व्रज ।
अपि वा संशयं प्राप्य जीवितेऽपि पराक्रम ॥
अप्यरे श्येनवच्छिद्रं पश्येस्त्वं विपरिक्रमन् ।
विनदन्वाथ वा तूष्णीं व्योम्नि वा परिशङ्कित ॥

शत्रु रूपी साँप के दाँत तोड़ते हुए तुम, अच्छा हो कि, मृत्यु को प्राप्त होओ। मृत्यु सिर पर खड़ी हो तब भी पराक्रम से पीछे न हटो। बाज की तरह तुम उड़ान भरते रहो और शत्रु की दुर्बलता का क्षेत्र देखते ही आवाज करते हुए या चुप रहकर झपट्टा मारो।

श्लोक ११-१२

त्वमेवं प्रेतवच्छेषे कस्माद् वज्रहतो यथा ।
उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा शेष्वैवं पराजित ।
मास्तं गमस्त्वं कृपणो विश्रूयस्व स्वकर्मणा ।
मा मध्ये मा जघन्ये त्वं माधो भूस्तिष्ठ चोर्जित ॥

जैसे वज्र तुम पर गिर पड़ा हो ऐसे मुर्दा की तरह क्यों पड़े हो ? हे कापुरुष, उठो ! हार कर ऐसे पड़े न रहो, दयनीय बनकर अस्त न हो जाओ । अपने शौर्य से ख्याति प्राप्त करो । न मध्यम मार्ग अपनाओ, न निकृष्ट (अधम) मार्ग । उत्तम होने के लिए युद्ध में अपनी ऊर्जस्विता दिखलाओ ।

श्लोक १३-१४

अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि विज्वल ।
मा तुषाग्निरिवानर्चि काकरङ्काजिजीविषुः ॥
मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् ॥
माहस्म कस्यचिद्गेहे जनी राज्ञः खरो मृदुः ।
कृत्वा मानुष्यकं कर्म सृत्वाजिं यावदुत्तमम् ।
धर्मस्यानृण्यमाप्नोति न चात्मानं विगर्हते ॥

तेंदू की चिनगारी की तरह दो घड़ी के लिए भी प्रज्वलित हो उठो । चिटक उठो ! भुस की आग की तरह ज्वालारहित केवल काला धुआँ न करो । भभक कर एक क्षण जलना देर तक सुलगने से कहीं अधिक श्रेयस्कर है । किसी भी राजा के घर कोमल स्वभाव का पुरुष जन्म न ले । मनुष्योचित कर्म करके युद्ध में पराक्रम दिखलाकर ही राजकुमार अपने धर्म से ऋण होता है और अपने को निन्द्य नहीं बनाता ।

श्लोक १५

अलब्ध्वा यदि वा लब्ध्वा नानुशोचन्ति पण्डिताः ।
आनन्तर्यं चारभते न प्राणानां धनायते ॥

समझदार आदमी अभीष्ट फल पाये या न पाये, इसकी चिन्ता नहीं करता । वह केवल निरन्तर प्राणपर्यन्त प्रयत्न करता रहता है और प्राणों का विनिमय धन से नहीं करता ।

श्लोक २०

यस्य वृत्तं न जल्पन्ति मानवा महदद्भुतम् ।
राशिवर्धनमात्रं स नैव स्त्री न पुनः पुमान् ॥

जिस व्यक्ति को महान् और अद्भुत पुरुषार्थ तथा पराक्रमशील चरित्र को लोग चर्चा का विषय नहीं बनाते, वह जनसंख्या की राशि बढ़ाने वाला है । न वह स्त्री है, न पुरुष ।

श्लोक २१

दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं यशः ।
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः ॥

जिस पुत्र को दान से, तप से, शौर्य से, विद्या से, अर्थ से, यश नहीं मिला, वह अपनी माँ का निकृष्ट विसर्ग मात्र है, सन्तान नहीं।

श्लोक २३

न त्वेव जाल्मीं कापालीं वृत्तिमेषितुमर्हसि ।
नृशंस्यामयशस्यां च दुःखां कापुरुषोचिताम् ॥

तुम्हारे लिए यह उचित नहीं है कि इस पाखण्ड पूर्ण भिक्षमंगी वृत्ति का अनुसरण करो। यह वृत्ति निन्दनीय है, उचित नहीं है, दुख देने वाली है और कायर पुरुषों की कायरता की सूचक है।

श्लोक २८

निरमर्षं निरुत्साहं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ।
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ॥

तुम्हारे जैसे क्रोधहीन, उत्साहहीन, वीर्यहीन, शत्रुओं के लिए सुविधाजनक कुपुत्र को कोई सुहागिन स्त्री उत्पन्न न करे।

श्लोक २९

मा धूमाय ज्वलात्यन्तमाक्रम्य जहि शात्रवान् ।
ज्वल मूर्धन्यमित्राणां मुहूर्तमपि वा क्षणम् ॥

धुआँ पैदा करने के लिए तुम देर तक न जलो। शत्रुओं पर टूट पड़ो। भले ही शत्रुओं के सिर पर एक क्षण के लिए भभको, पर अपना तेज दिखलाओ।

श्लोक ३०

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी ।
क्षमावान्निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान् ॥

पुरुष का पुरुषत्व इसी में है कि उसे अमर्ष हो सकता है, वह सहन नहीं कर सकता है। जो चुपचाप सह ले, वह अमर्षहीन न स्त्री है, न पुरुष।

श्लोक ३६

अनु त्वा तात जीवन्तु ब्राह्मणाः सुहृदस्तथ ।
पर्जन्यमिव भूतानि देवा इव शतक्रतुम् ॥

हे पुत्र! तुम उद्योग करो। जैसे समस्त प्राणी वर्षा करने वाले मेघ या इन्द्र का मुह जोहते हैं, वैसे ही ब्राह्मण और तुम्हारे मित्र तुम्हारे धन पर जियें।

श्लोक ४०

यमाजीवन्ति पुरुष सर्वभूतानि सञ्जय ।
पक्व द्रुममिवासाद्य तस्य जीवितमर्थवत् ॥

हे संजय! जैसे पके फलो वाले पेड से समस्त प्राणी आसरा लगाये रखते हैं, वैसे ही जिस पुरुष के ऊपर समस्त प्राणी अवलम्बित रहते हैं उसी का जीवन अर्थवान् है।

४ मृत्यु को पहचानो

'स्त्री पर्व', अध्याय २
विदुर का उपदेश

श्लोक २

उत्तिष्ठ राजन्कि शेषे धारयात्मानमात्मना ।
स्थिरजङ्गममर्त्यानां सर्वेषामेव निर्णय ॥

"विदुर ने महाभारत के अन्त मे शोकसतप्त धृतराष्ट्र को समझाते हुए कहा—"हे महाराज! उठिए। क्यो यो भूमि पर पडे हुए हैं? अपने को अपने से धैर्य दीजिए। जगत् मे चर-अचर सभी पदार्थों का और मरणधर्मा मनुष्य का अन्त होता है और मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।"

श्लोक ३

सर्वे क्षयान्ता निचया पतनान्ता समुच्छ्रया ।
सयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्त हि जीवितम् ॥

समस्त सचयो का अन्त है क्षय। समस्त उन्नतियो का अन्त है पतन। समस्त सयोगो का अन्त है वियोग। इसी प्रकार जीवन का अन्त है मरण।

श्लोक ४

यदा शूर च भीरु च यम कर्षति भारत।
तत्किं न योत्स्यन्ति हि ते क्षत्रिया क्षत्रियर्षभ॥

यमराज वीर को भी खीच कर ले जाते हैं, कायर को भी। पर क्या यह जान कर क्षत्रिय युद्ध से विरत होंगे?

श्लोक ५

अयुध्यमानो म्रियते युध्यमानश्च जीवति।
काल प्राप्य महाराज न कश्चिदतिवर्तते॥

जो नही लडता है वह मारा जाता है और लडने वाला भी जीवित बचता है। हे महाराज! काल के आ जाने पर उस का उल्लघन नही किया जा सकता है।

श्लोक ६

न चाप्येतान्हतान्युद्धे राजन् शोचितुमर्हसि।
प्रमाण यदि शास्त्राणि गतास्ते परमा गतिम्॥

युद्ध मे जो मारे गये हैं, उन के लिए आप को शोक नही करना चाहिए। यदि शास्त्रो को आप प्रमाण मानते हैं तो युद्ध मे मारे गये शत्रु परम गति को प्राप्त हो गये।

श्लोक ७

सर्वे स्वाध्यायवन्तो हि सर्वे च चरितव्रता।
सर्वे चाभिमुखा क्षीणास्तत्र का परिदेवना॥

वे सभी वेदो का अभ्यास करने वाले थे, वे सभी व्रतो का आचरण करने वाले थे, वे सभी युद्ध मे सामने लडते हुए मारे गये। उनके बारे मे क्या शोक।

श्लोक ८

अदर्शनादापतिता पुनश्चादर्शन गता।
न ते तव न तेषा त्व तत्र का परिदेवना॥

सभी अदृश्य जगत् से आये थे। फिर सभी अदृश्य जगत् में चले गये। न वे तुम्हारे कोई थे, न तुम उनके कोई हो। तब क्या शोक !

श्लोक १२

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥

इस संसार में विभिन्न योनियों में भ्रमण करते हुए हजारों माता-पिता बनते हैं, सैंकड़ों स्त्री-पुत्र का सुख देते हैं। किन्तु किसके वे होते हैं और हम किसके होते हैं ?

श्लोक १३

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥

हजारों जगहें हैं शोक की, सैंकड़ों जगहें हैं भय की। दिन-प्रतिदिन मूर्ख प्राणी इनसे आविष्ट होता है, पर जो पण्डित हैं, उसके ऊपर इन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

श्लोक १४

न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम ।
न मध्यस्थः क्वचित्कालः सर्वं कालः प्रकर्षति ॥

न काल का कोई प्रिय है, न काल का कोई शत्रु, न काल का कोई मध्यस्थ। काल बिना किसी भेदभाव के सबको खींच कर ले जाता है।

श्लोक १५

अनित्यं जीवितं रूपं यौवनं द्रव्यसंचयः ।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येदेषु न पण्डितः ॥

जीवन, रूप, यौवन, धन, आरोग्य और प्रिय लोगों के साथ अप्रिय लोगों का साहचर्य, ये सभी अनित्य हैं। पण्डित को इनका लोभ नहीं करना चाहिए।

श्लोक १६

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हसि ।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ॥

जो दुख पूरे जनपद का है, आप उसे अपना अकेला मानकर शोक न करें, क्योंकि शोक में आप शरीर त्याग भी दें तो भी वह दुख दूर नहीं होगा।

श्लोक १७

अशोचन्प्रतिकुर्वीत यदि पश्येत्पराक्रमम् ।
भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतान्नानुचिन्तयेत् ।
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि विवर्धते ॥

मनुष्य यदि अपने पराक्रम की ओर देखे तो बिना शोक किए ही शोक का प्रतिकार कर सकता है। दुख की एक ही औषधि है कि उसके बारे में सोचना छोड़ दें। सोचने पर वह कम नहीं होता, बल्कि उलटे बढ़ता ही है।

श्लोक १८

अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात्प्रियस्य च ।
मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते येऽल्पबुद्धयः ॥

अल्प बुद्धि वाले मनुष्य ही अप्रिय वस्तु के मिलने से और प्रिय के बिछुड़ने से मन में दुख पाते हैं।

श्लोक १९

नार्थो न धर्मो न सुखं यदेतदनुशोचसि ।
न च नापैति कार्यार्थात्त्रिवर्गाच्चैव भ्रश्यते ॥

दुख करने से अर्थ, धर्म, काम कुछ भी सिद्ध नहीं होता। प्रत्युत मनुष्य कर्तव्य से च्युत हो जाता है और धर्म, अर्थ, काम तीनों से वंचित हो जाता है।

श्लोक २०

अन्यामन्यां धनावस्थां प्राप्य वैशेषिकीं नराः ।
असन्तुष्टाः प्रमुह्यन्ति सन्तोषं यान्ति पण्डिताः ॥

असन्तुष्ट मनुष्य जैसे-जैसे धन कमाता है वैसे-वैसे और असन्तुष्ट हो जाता है। परन्तु पण्डित प्रत्येक स्थिति में सन्तुष्ट रहते हैं।

श्लोक २१

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।
एतज्ज्ञानस्य सामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥

मन के दुःख को प्रज्ञा से, शरीर के दुःख को औषधि से मारना चाहिए। यही ज्ञान का अर्थ है। मनुष्य को बच्चों की तरह विह्वल नहीं होना चाहिए।

श्लोक २२

शयानं चानुशयति तिष्ठन्तं चानुतिष्ठति।
अनुधावति धावन्तं कर्म पूर्वकृतं नरम्॥

पूर्व जन्म में जो आदमी कर्म किये रहता है, वह कर्म मनुष्य के साथ सोता है, मनुष्य के साथ उठ खड़ा होता है और मनुष्य के पीछे-पीछे दौड़ता रहता है।

श्लोक २३

यस्यां यस्यामवस्थायां यत्करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्तत्फलमुपाश्नुते॥

जिस-जिस अवस्था में जो-जो शुभ या अशुभ कर्म मनुष्य करता है, उसी-उसी अवस्था में उसको वैसा ही शुभ या अशुभ फल प्राप्त होता है।

'स्त्रीपर्व' (अध्याय ३)

श्लोक ६-१३

यथा च मृन्मयं भाण्डं चक्रारूढं विपद्यते।
किञ्चित्प्रक्रियमाणं वा कृतमात्रमथापि वा॥
छिन्नं वाप्यवरोप्यन्तमवतीर्णमथापि वा।
आर्द्रं वाप्यथ वा शुष्कं पच्यमानमथापि वा॥
अवतार्यमाणमापाकादुद्धृतं वापि भारत।
अथ वा परिभुज्यन्तमेवं देहाः शरीरिणाम्॥
गर्भस्थो वा प्रसूतो वाप्यथ वा दिवसान्तरः।
अर्धमासगतो वापि माससमात्रगतोऽपि वा॥
संवत्सरगतो वापि द्विसंवत्सर एव वा।
यौवनस्थोऽपि मध्यस्थो वृद्धो वापि विपद्यते॥

जैसे कोई मिट्टी का बर्तन बनाते समय चाक पर चढ़ाते ही टूट जाये, कोई बर्तन बनते समय टूट जाये, कोई पूरा बन कर टूट जाये, कोई सूत से काटते समय टूट जाये, कोई चाक से उतारते समय टूट जाये, कोई उतारने पर गीला

ही रहे और टूट जाये, कोई सूख जाने पर भी टूट जाये, कोई आँवाँ मे रखते समय टूट जाये, कोई आँवाँ से उतारते समय टूट जाये, कोई रसोई से उठाते समय टूट जाये, कोई खाते समय टूट जाये, ऐसे ही प्राणियो के शरीर की बात है। कोई गर्भ मे ही मर जाता है, कोई प्रसव के होते ही मर जाता है, कोई कुछ दिनो बाद, कोई पन्द्रह दिन का होकर, कोई महीने भर का होकर, कोई एक या दो वर्ष का होकर, कोई भरी जवानी मे, कोई बूढा होकर मर जाता है।

५. भवाटवी

स्त्रीपर्व (अध्याय ३)

श्लोक २

अत्र ते वर्तयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयभुवे।
यथा ससारगहन वदन्ति परमर्षय ॥

विदुर बोले—"मैं भगवान् स्वयभू को प्रणाम करके ससार रूपी गहन वन का उसी भाषा मे वर्णन करूँगा जिस भाषा मे महर्षियो ने किया।

श्लोक ३-५

कश्चिन्महति ससारे वर्तमानो द्विज किल।
वन दुर्गमनुप्राप्तो महत्क्रव्यादसकुलम् ॥
सिहव्याघ्रगजाकारैरतिघोरैर्महाशनै ।
समन्तात्सपरिक्षिप्त मृत्योरपि भयप्रदम् ॥
तदस्य दृष्ट्वा हृदयमुद्वेगमगमत्परम् ।
अभ्युच्छ्रयश्च रोम्णा वै विक्रियाश्च परतप ॥

इस विशाल ससार मे कोई एक ब्राह्मण था। एक दिन भयकर हिंस्र पशुओ से सकुल दुर्गम वन मे जा पहुँचा। वहाँ अत्यन्त भयानक और महाभक्षी सिंह, व्याघ्र, गज चारो ओर बसे हुए थे। उस वन को देख कर मृत्यु भी भयभीत होती थी। ब्राह्मण का हृदय इस वन को देख कर घबडा उठा। रोंगे खडे हो गये। मन विक्षिप्त हो गया।

श्लोक ६-७

स तद्वनं व्यनुसरन् विप्रधावन्नितस्ततः ।
वीक्षमाणो दिशः सर्वा शरणं क्व भवेदिति ॥
स तेषां छिद्रमन्विच्छन्प्रद्रुतो भयपीडितः ॥
न च निर्याति वै दूरं न च तैर्विप्रयुज्यते ॥

वह ब्राह्मण इधर-उधर शरण ढूँढने लगा। चारों दिशाओं में उसे कहीं शरण नहीं दिखी। वहीं हिंस्र प्राणियों के रहने की जगहें यहाँ-वहाँ देखता हुआ और भी भयभीत होकर दौड़ने लगा पर वह वन से निकल नहीं सका। वह उन हिंस्र पशुओं से पीछा नहीं छुड़ा सका।

श्लोक ८-९

अथापश्यद्वनं घोरं समन्ताद्वागुरावृतम् ।
बाहुभ्यां सम्परिष्वक्तं स्त्रिया परमघोरया ॥
पञ्चशीर्षधरैर्नागैः शैलैरिव समुन्नतैः ।
नभःस्पृशैर्महावृक्षैः परिक्षिप्तं महावनम् ॥

इतने में उसने देखा कि उस वन के चारों ओर एक महाजाल पड़ा है और भयंकर स्त्री ने उस जाल को अपनी बाँहों में समेट रखा है। पर्वत के समान ऊँचे पाँच सिर वाले (नागों) से और (आकाशचुम्बी) महावृक्षों से वह वन चारों ओर से घिरा हुआ है।

श्लोक १०-१२

वनमध्ये च तत्राभूदुदपानः समावृतः ।
वल्लीभिस्तृणछन्नाभिर्गूढाभिरभिसंवृतः ॥
पपात स द्विजस्तत्र निगूढे सलिलाशये ।
विलग्नश्चाभवत्तस्मिंल्लतासंतानसंकटे ॥
पनसस्य यथा जातं वृन्तबद्धं महाफलम् ।
स तथा लम्बते तत्र ऊर्ध्वपादोऽप्यधःशिराः ॥

इतने में वह वन के बीच में घास फूस से ढकी हुई लताओं से न दिखने वाले एक कुएँ में गिर पड़ा। उस कुएँ में वह नीचे नहीं गया। लताओं के वितान में उलझकर लटक गया। उसका पैर ऊपर लताओं में फँस गया। सिर नीचे लटक गया जैसे कटहल का बड़ा-सा फल डंठल में लटका हुआ हो।

श्लोक १३-२२

अथ तत्रापि चान्योऽस्य भूयो जात उपद्रव ।
कूपवीनाहवेलायामपश्यत महागजम् ॥
षड्वक्त्र कृष्णशबल द्विषट्कपदचारिणम् ।
क्रमेण परिसर्पन्त वल्लीवृक्षसमावृतम् ॥
तस्य चापि प्रशाखासु वृक्षशाखावलम्बिन ।
नानारूपा मधुकरा घोररूपा भयावहा ॥
आसते मधु सम्वृत्य पूर्वमेव निकेतजा ॥
भूयोभूय समीहन्ते मधूनि भरतर्षभ ।
स्वादनीयानि भूताना न यैर्बालोऽपि तृप्यते ॥
तेषा मधूना बहुधा धारा प्रस्रवते सदा ।
ता लम्बमान स पुमान्धारा पिबति सर्वदा ।
न चास्य तृष्णा विरता पिबमानस्य सकटे ॥
अभीप्सति च ता नित्यमतृप्त स पुन पुन ।
न चास्य जीविते राजन्निर्वेद समजायत ॥
तत्रैव च मनुष्यस्य जीविताशा प्रतिष्ठिता ।
कृष्णा श्वेताश्च त वृक्ष कुट्टयन्ति स्म मूषका ॥
व्यालैश्च वनदुर्गान्ते स्त्रिया, च परमोग्रया ।
कूपाधस्ताच्च नागेन वीनाहे कुञ्जरेण च ॥
वृक्षप्रपाताच्च भय मूषकेभ्यश्च पञ्चमम् ॥
मधुलोभान्मधुकरै षष्ठमाहुर्महद्भयम् ॥
एव स वसते तत्र क्षिप्त ससारसागरे ॥
न चैव जीविताशाया निर्वेदमुपगच्छति ॥

इसी बीच मे एक दूसरा उपद्रव आ खडा हुआ । ब्राह्मण ने लटके-लटके देखा कि कुएँ के मुहाने पर एक बडा मतवाला हाथी आकर खडा हो गया । उसके छ मुँह थे । वह चितकबरे रग का था । उसके बारह पैर थे और वह उस लता वितान से ढके हुए कुएँ की तरफ धीरे-धीरे झूमता हुआ आ रहा था । जिस पेड की शाखा पर ब्राह्मण लटका हुआ था, उस की छोटी-छोटी डालियो पर भयकर रग-बिरगी मधुमक्खियाँ छत्ता बना कर उस छत्ते को घेर कर बैठी थी । मधु-मक्खियाँ बार-बार शहद पीना चाहती थी जिसे चख कर बालक कभी तृप्त नही होते । शहद की धारा बराबर झर रही थी और लटका हुआ ब्राह्मण उसे पी रहा था । घोर सकट मे भी शहद पीते हुए उस की तृप्ति नही हो रही थी । बार-बार उसे पीने की इच्छा होती थी और मृत्यु के आसन्न भय को अनदेखा

करते हुए उसे जीवन से लगाव भी बना रहा, विरक्ति नहीं हुई। शहद के कारण जीवित रहने की आशा मन में जगी। इतने में उसने देखा कि वृक्ष से लटकी हुई जिस लता को वह पकड़े हुए है उसे सफेद और काले चूहे कुतर रहे हैं। इस प्रकार वह छ भयों से घिरा हुआ था। हिंस्र सर्पों और व्याघ्रों से, जाल थामने वाली स्त्री से, कुएँ के नीचे बैठे हुए नाग से, और कुएँ के मुहाने पर आये हुए हाथी से, चूहों के द्वारा कुतरे जाते हुए वृक्ष के गिरने से तथा मधु के लोभ के कारण मधुमक्खियों से। तब भी उस संसार रूपी अटवी में भयों से घिरा हुआ जीविताशा नहीं छोड़ पा रहा है।"

अध्याय ६

श्लोक १-३

अहो खलु महद्दुःखं कृच्छ्रवासं वसत्यसौ।
कथं तस्य रतिस्तत्र तुष्टिर्वा वदतां वर॥
स देशः क्व नु यत्रासौ वसते धर्मसंकटे।
कथं वा स विमुच्येत नरस्तस्मान्महाभयात्॥
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व साधु चेष्टामहे तथा।
कृपा मे महती जाता तस्याभ्युद्धरणेन च॥

धृतराष्ट्र ने पूछा कि ब्राह्मण महान् दुःख में पड़ कर इतनी कठिन स्थिति में रहता हुआ कैसे भला प्रसन्न और संतुष्ट रह पाया होगा। वह देश कहाँ है, जहाँ पर वह ब्राह्मण ऐसे धर्मसंकट में पड़ा हुआ है और कौन-सा उपाय है जिससे उस को इस महाभय से मुक्ति मिले। उपाय जान जायें तो हम सब उस के उद्धार की चेष्टा करें। उस के ऊपर मुझे बहुत दया आ रही है।

श्लोक ४-१२

उपमानमिदं राजन्मोक्षविद्भिरुदाहृतम्।
सुगतिं विन्दते येन परलोकेषु मानवः।
यत्तदुच्यति कान्तारं महत्संसार एव सः।
वनं दुर्गं हि यत्त्वेतत्संसारगहनं हि तत्॥
ये च ते कथिता व्याला व्याधयस्ते प्रकीर्तिताः।
या सा नारी बृहत्काया अधितिष्ठति तत्र वै।
तामाहुस्तु जरां प्राज्ञा वर्णरूपविनाशिनीम्॥
यस्तत्र कूपो, नृपते स तु देहः शरीरिणाम्।

यस्तत्र वसतोऽधस्तान्महाहिः काल एव सः ।
अन्तकः सर्वभूतानां देहिनां सर्वहार्यसौ ॥
कूपमध्ये या जाता वल्ली यत्र स मानवः ।
प्रताने लम्बते सा तु जीविताशा शरीरिणाम् ॥
स यस्तु कूपवीनाहे सम्पत्य परिसर्पति ।
षड्वक्त्रः कुञ्जरो राजन् तु संवत्सरः स स्मृतः ।
मुखानि ऋतवो मासाः पादा द्वादश कीर्तिताः ॥
ये तु वृक्षं निकृन्तन्ति मूषकाः सततोत्थिताः ।
राज्यहानि तु तान्याहुर्भूतानां परिचिन्तकाः ॥
ये मधुकरास्तत्र कामास्ते परिकीर्तिताः ॥
यास्तु ता बहुशो धाराः स्रवन्ति मधुनिस्रवम् ।
तास्तु कामरसान्विद्याद्यत्र मज्जन्ति मानवाः ॥
एवं संसारचक्रस्य परिवृत्तिं स्म ये विदुः ।
ते वै संसारचक्रस्य पाशांश्छिन्दन्ति वै बुधाः ॥

विदुर बोले—"मैंने जो यह कहानी सुनाई है इसे मोक्षवेत्ता ऋषियों ने मनुष्य की सद्गति के लिए प्रस्तुत किया है। संसार की वास्तविकता को समझने के लिए एक पद्धति बनायी है। जिस जंगल में वह ब्राह्मण पड़ा था वह यह घोर संसार ही है। इसका भीतर ही दुर्गम भाग संसार का ही एक जटिल रूप है। इस वन को घेरने वाले साँप व्याधियाँ हैं। महाकाय स्त्री जो जाल समेटे वहाँ है, वह यौवन और रूप का नाश करने वाली जरा (बुढ़ापा) है। कुआँ यह देह है जिसके भीतर रहने वाला साँप महाकाल है। वह समस्त प्राणियों का अन्तक है। समस्त संचय का अपहर्ता है। कुएँ में उगी हुई लता मनुष्यों की जीविताशा है। कुएँ के मुहाने पर धीरे-धीरे चल कर आने वाला हाथी संवत्सर है। छः ऋतुएँ उसके मुख हैं, बारह महीने उसके पैर। वृक्ष को काटने वाले सफेद और काले चूहे दिन और रात हैं। शहद की मक्खियाँ कामनाएँ हैं और शहद कामनाओं का रस है, लगाव है। मनुष्य इन्हीं में डूब कर नष्ट होता है। जो लोग संसार-चक्र की इस गति को समझ लेते हैं, वे ही इसके बन्धन काट सकते हैं।"

६ युधिष्ठिर का अनुताप

शान्ति पर्व (अध्याय ७)

श्लोक १-२

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा शोकव्याकुलचेतन ।
शुशोच दु खसन्तप्त स्मृत्वा कर्णं महारथम् ॥
आविष्टो दु खशोकाभ्या नि श्वसश्च पुन पुन ।
दृष्ट्वार्जुनमुवाचेद वचन शोककर्शित ॥

धर्मात्मा युधिष्ठिर महारथी कर्ण का स्मरण कर दु ख-सतप्त हो गये। दु ख और शोक म आविष्ट होकर लम्बी सास छोडते हुए अर्जुन से यह कहा

श्लोक ३-५

यद्भैक्षमाचरिष्याम वृष्ण्यन्धकपुरे वयम् ।
ज्ञातीन्निष्पुरुषान्कृत्वा नेमा प्राप्स्याम दुर्गतिम् ॥
अमित्रा न समृद्धार्था वृत्तार्था कुरव किल ।
आत्मानमात्मना हत्वा किं धर्मफलमाप्नुम ॥
धिगस्तु क्षात्रमाचार धिगस्तु बलमौरसम् ।
धिगस्त्वमर्षं येनेमामापद गमिता वयम् ॥

यदि हम लोग युद्ध न करते वृष्णियो, और अधको की पुरी द्वारिका मे भिक्षावृत्ति कर के जीवन बिताते तो हम लोग अपने सम्बन्धियो और सगोत्रियो के नाश के कारण न बनते और इस दुर्गति को प्राप्त नही होते। आज तो हमारे शत्रु कौरव ही अधिक भाग्यशाली हैं क्योकि वे लोग युद्ध मे मृत्यु का वरण करके स्वर्ग चले गये हैं और हम लोगो ने अपने बल से अपने ही लोगो की हत्या कर के कौन सा धर्म फल पा लिया ? क्षत्रिया के आचार को धिक्कार है। क्षत्रिया के बल-पुरुषार्थ को धिक्कार है और उस अमर्ष को धिक्कार है जिसके कारण हम बन्धुनाश के इस दुरत शोचनीय अवस्था मे आ पहुँचे हैं।

श्लोक ६-६

साधुक्षमा दम शौचमवरोध्यममत्सर ।
अहिंसा सत्यवचन नित्यानि वनचारिणाम् ॥
वय तु लोभान्मोहाच्च स्तम्भ मान च सश्रिता ।
इमामवस्थामापन्ना राज्यलेशबुभुक्षया ॥

त्रैलोक्यस्यापि राज्येन नास्मान्कश्चिन्प्रहर्षयेत् ॥
बान्धवान्निहतान्दृष्ट्वा पृथिव्यामामिषैषिण ॥
ते वय पृथिवीहेतोरवध्यान्पृथिवीसमान् ।
सपरित्यज्य जीवामो हीनार्था हतबान्धवा ॥

बनवासी ऋषियों-मुनियों का आचार ही उत्तम है, जिसमे क्षमा, सयम, पवित्रता, अविरोध अमत्सर, अहिंसा और सत्य ही प्रतिष्ठित रहते हैं। और हम लोग हैं कि लोभ-मोह के वश मे होकर तर्क और अभिमान का आश्रय लेकर राज्य के टुकडे की भूख के कारण इस अवस्था को पहुँच गये हैं। पृथ्वी की विजय की अभिलाषा करने वाले अपने बन्धु-बान्धवो को मारे हुए देख कर ऐसा लगता है कि हम लोगो को कोई तीनो लोको का राज्य दे दे तो भी हमारी भूख नही मिटेगी। कितने दुख की बात है इस पृथ्वी के लिए हम पृथ्वी के समान महनीय और अवध्य आत्मीय जनो को मारकर निष्प्रयोजन व बन्धु-बान्धव रहित अभागा जीवन जीने के लिए बच गये हैं।

श्लोक १०-१२

आमिषे गृध्यमानानामशुना न शुनामिव ।
आमिष चैव नो नष्टमामिषस्य च भोजिन ॥
न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभि ।
न गवाश्वेन सर्वेण ते त्याज्या य इमे हता ॥
सयुक्ता काममन्युभ्या क्रोधामर्षसमन्विता ।
मृत्युयान समारुह्य गता वैवस्वतक्षयम् ॥

जैसे माँस के लोभ मे कुत्ते आपस मे लडते रहते हैं वैसे ही राज्य के लोभ मे लडते रहे। माँस के टुकडे की तरह वह राज्य भी चला गया और राज्य को भोगने वाले सहभागी भी चले गये। वे लोग जो मारे गये हैं, वे किसी भी मूल्य पर मारे जाने लायक नही थे। न समस्त पृथ्वी के मूल्य पर, न स्वर्णराशि के मूल्य, न गोधन और अश्वधन के मूल्य पर। ये सभी काम और आवेग से, क्रोध और अमर्ष से भरे हुए थे। पर मृत्यु के विमान पर चढ कर ये सभी परलोक चले गये।

श्लोक १३-१६

बहु कल्याणमिच्छन्त ईहन्ते पितर सुतान् ।
तपसा ब्रह्मचर्येण वन्दनेन तितिक्षया ॥

उपवासैस्तथेज्याभिव्रतै कौतुक मगलै ।
लभन्ते मातरो गर्भास्ता मासा दश बिभ्रति ॥
यदि स्वस्ति प्रजायन्ते जाता जीवन्ति वा यदि ।
सभाविता जातबलास्ते दद्युर्यदि न सुखम ।
इह चामुत्र चवेति कृपणा फलहेतुका ॥
तासामय समारम्भो निवृत्त केवलोऽफल ।
यदासा निहता पुत्रा युवानो मृष्टकुण्डला ॥
अभुक्त्वा पार्थिवा भोगानृणा यपहाय च ।
पितृभ्यो देवताभ्यश्च गता वैवस्वतक्षयम ॥
यदयामङ्ग पितरौ जातौ काममयाविव ।
सजातबलरूपेषु तदैव निहता नृपा ॥
सयुक्ता काममन्युभ्या क्रोधहर्षासमञ्जसा ।
न ते जन्मफल किञ्चिदभोक्तारो जातु कर्हिचित ॥

जिन माता पिताओ की ये सन्तान थे उन्होंने क्या-क्या कल्पना नहीं की होगी। पिताओ ने इनके कल्याण की कामना की होगी। माताओ ने तप ब्रह्मचय देवपूजा तितिक्षा उपवास, यज्ञ, व्रत और विविध मगल—अनुष्ठानो के द्वारा इन्हें पुत्र रूप म पाने की कामना की होगी और दस माह तक इन्हें गर्भ मे धारण किया होगा। माताओ ने क्या-क्या मन मे सकल्प किया होगा कि सन्तान कुशल से जन्म लेगी जन्म लेकर जीवित रहेगी बडी होगी बलशाली होगी पद प्रतिष्ठा का सम्मान पाएगी हम सुख देगी —इस लोक म भी उस लोक म भी। कितनी दयनाय सिद्ध हुई उनकी फल की आशा। उन माताओ के सकल्प उनके व्रत उपवास सब निष्फल हो गये। भरी जवानी म दमकते हुए कुण्डल पहने उनके लडके युद्ध म मारे गये। अभी उनकी कितनी कच्ची उम्र थी? कोई भी पार्थिव भोग नहीं भोग पाये। वे कोई भी ऋण नहीं उतार पाये थे—न देव ऋण न पितृ ऋण और दिवगत हो गये। जिस समय इनके मां बाप की आशा पूरी होने को आ रही थी और उनके पुत्र बल रूपवान हो रहे थे उसी समय वे मारे गये। काम और आवेग से भरे हुए क्रोध और हर्ष म झूलते हुए वे आशाओ के केन्द्र चले गये। उन्होंने मनुष्य जन्म पाने का कोई तो फल नहीं पाया। इन सबका पाप मेरे ऊपर है।

७ काम गीता

'आश्वमेधिक पर्व' (अध्याय १३)
श्रीकृष्ण द्वारा युधिष्ठिर को उपदेश
श्लोक १२-१७

नाहं शक्योऽनुपायेन हन्तुं भूतेन केनचित् ।
यो मां प्रयतते हन्तुं ज्ञात्वा प्रहरणे बलम् ॥
तस्य तस्मिन्प्रहरणे पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ।
यो मां प्रयतते हन्तुं यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ॥
जङ्गमेष्विव कर्मात्मा पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ।
यो मां प्रयतते हन्तुं वेदैर्वेदान्तसाधनैः ।
स्थावरेष्विव शान्तात्मा तस्य प्रादुर्भवाम्यहम् ॥
यो मां प्रयतते हन्तुं धृत्या सत्यपराक्रमः ।
भावो भवामि तस्याहं स च मां नावबुध्यते ।
यो मां प्रयतते हन्तुं तपसा संशितव्रतः ।
ततस्तपसि तस्याथ पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥
यो मां प्रयतते हन्तुं मोक्षमास्थाय पण्डितः ।
तस्य मोक्षरतिस्थस्य नृत्यामि च हसामि च ।
अवध्यः सर्वभूतानामहमेकः सनातनः ॥

काम कहता है—"मैं ममता के त्याग के अलावा किसी दूसरे उपाय से मारा नहीं जा सकता। जो मुझे अस्त्र बल से मारना चाहता है, मैं उसके शस्त्र-बल में अहंकार बन कर पुनः प्रविष्ट हो जाता हूँ और वह मेरे अधीन हो जाता है। जो मुझे विविध दक्षिणाओं वाले यज्ञ से मारने की कोशिश करता है, मैं जंगल-योनियों में उत्पन्न धर्मात्मा की तरह मैं उसके चित्त में दम्भ बन कर फिर प्रगट हो जाता हूँ। जो मुझे वेद-वेदान्त के अभ्यास से मारना चाहता है, मैं स्थावर योनियों में व्याप्त शान्त आत्मा की तरह उस के चित्त में बुद्धि बन कर प्रविष्ट हो जाता हूँ। जो सत्य के पराक्रम के द्वारा अपने धैर्य से मुझे नष्ट करना चाहता है मैं उस के मन का भाव बन कर प्रगट हो जाता हूँ, वह मुझे जान नहीं पाता। जो मुझे कठिन व्रत धारण करके तप से मारना चाहता है, मैं उस के तप का आकार ग्रहण कर लेता हूँ। जो मुझे मोक्ष मार्ग का अवलम्बन करके मारना चाहता है, मैं उसके मोक्ष की कामना बनकर नाचता व हँसता हूँ। मैं समस्त प्राणियों के लिए अवध्य हूँ।"

काम जुड़ा हुआ है ममकार से। बड़े से बड़ा प्रयत्न करने भी जब तक मम की भावना है, तब तक काम के प्रति आसक्ति नहीं जा सकती।

८ आनृशंस्य

'महाप्रस्थानिक पर्व', (अध्याय ३)
युधिष्ठिर-इन्द्र संवाद

श्लोक ७

> अयं श्वा भूतभव्येश भक्तो मां नित्यमेव ह।
> स गच्छेत मया सार्धमानृशंस्या हि मे मतिः।

युधिष्ठिर फिर बोले—"हे भूत और भविष्यत् के ईश्वर! यह कुत्ता मेरे साथ सदा से रहा है इसे मेरे साथ स्वर्ग जाने दीजिए। मेरी मानववृत्ति यही कहती है।"

श्लोक ८

> अमर्त्यत्वं मत्समत्वं च राजन्श्रियं कृत्स्नां महतीं चैव कीर्तिम्।
> सम्प्राप्तोऽद्य स्वर्गसुखानि च त्वं त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति॥

इन्द्र बोले—"तुम मरणधर्मा मनुष्य न रहकर मेरे समान देवत्व को प्राप्त हो गये हो। समग्र लक्ष्मी, महती कीर्ति और स्वर्ग-सुख अर्जित किया है। तुम इस कुत्ते को छोड़ दो। इसमें तुम्हारी कोई नृशंसता नहीं है।"

श्लोक ९

> अनार्यमार्येण सहस्रनेत्र शक्यं कर्तुं दुष्करमेतदार्य।
> मा मे श्रिया संगमनं तयास्तु यस्याः कृते भक्तजनं त्यजेयम्।

युधिष्ठिर बोले—"हे हजार आँखों वाले! यह दुष्कर व अनार्य कर्म मुझसे नहीं हो सकता। मुझे ऐसी श्री नहीं चाहिए, जिसके कारण मुझे भक्त को छोड़ना पड़े।"

श्लोक १०

> स्वर्गे लोके श्ववतां नास्ति धिष्ण्यमिष्टापूर्तं क्रोधवशा हरन्ति।
> ततो विचार्य क्रियतां धर्मराज त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति॥

इन्द्र बोले—"कुत्ते वालो के लिए स्वर्ग मे कोई स्थान नही है। ऐसे लोगो का पुण्य-फल क्रोधवश नाम के राक्षस हरा करते हैं। इसलिए हे धर्मराज युधिष्ठिर! विवेक से काम लो। इस कुत्ते को छोडो। इसमे कोई नृशसता नही है।"

श्लोक ११

भक्तत्याग प्राहुरत्यन्तपाप तुल्य लोके ब्रह्मवध्याकृतेन।
तस्मान्नाह जातु कथचनाद्य त्यक्ष्याम्येन स्वसुखार्थी महेन्द्र ॥

युधिष्ठिर बोले—"इस लोक मे भक्त का त्याग ब्रह्महत्या से बढकर बडा पाप माना गया है। अत किसी भी प्रकार इस कुत्ते को नही छोडूंगा।"

श्लोक १२-१३

शुनादृष्ट क्रोधवशा हरन्ति यद्दत्तमिष्ट विवृतमथो हुत च।
तस्माच्छुनस्त्यागमिम कुरुष्व शुनस्त्यागात्प्राप्स्यसे देवलोकम् ॥
त्यक्त्वा भ्रातरन्दयिता चापि कृष्णा प्राप्तो लोक कर्मणा स्वेन वीर।
श्वान चैन न त्यजसे कथ नु त्याग कृत्स्न चास्थितो मुह्यसेऽद्य ॥

इन्द्र बोले—"जिस दान, यज्ञ, स्वाध्याय, हवन को कुत्ता देख ले, उसका फल नष्ट हो जाता है, इसलिए स्वर्गलोक जाते समय कुत्ते का त्याग करके ही आप स्वर्गलोक मे प्रवेश कर सकेंगे। तुमने भाइयो को छोडा, अपनी प्रियतमा द्रौपदी को छोडा। अपने कर्म के बल पर स्वर्गलोक को प्राप्त किया। सबके छोडते समय तुम्हें मोह नही हुआ, इस कुत्ते को क्यो नही छोड पा रहे हो ?"

श्लोक १४-१५

न विद्यते सधिरथापि विग्रहो मृतैर्मर्त्यैरिति लोकेषु निष्ठा।
न ते मया जीवयितु हि शक्या तस्मात्त्यागस्तेषु कृतो न जीवताम् ॥
प्रतिप्रदान शरणागतस्य स्त्रिया बधो ब्राह्मणस्वापहार।
मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे ॥

युधिष्ठिर बोले—"यह लोक मे प्रसिद्ध है कि जब मनुष्य मर जाता है, तो उसके साथ न मैत्री रह जाती है, न शत्रुता। मैं अपने भाइयो और द्रौपदी को प्रयत्न करने पर भी जिला नही सकता। इसलिए मैंने उनका मोह नही किया। अगर वे जीते रहते तो मैं उनका परित्याग न करता। हे इन्द्र! चार बड़े पातक कहे गये हैं—शरणागत को शरण से लौटा देना, स्त्री का वध, ब्राह्मण की सम्पत्ति का अपहरण और मित्रद्रोह। उन सबके बराबर मैं भक्त के त्याग को महापातक मानता हूं।" □

परिशिष्ट-२

महाभारत के आख्यान, उपाख्यान और इतिहास (कथा-निदर्शन)

आदिपर्व के आख्यान एव उपाख्यान

१ उत्तक उपाख्यान (अध्याय ३)

विशेष विवरण—गुरु दक्षिणा मे माँगने पर पोष्य के कुण्डल लाने के लिए उत्तक का जाना, तक्षक द्वारा हरण और नागलोक से इन्द्र की कृपा से कुण्डल का उद्धार।

२ भृगुवंश विस्तार का आख्यान (अध्याय ५ से १२ तक)

विशेष विवरण—भृगु और भृगु पत्नी पुलोमा का उपाख्यान, पुलोमा के गर्भ से च्यवन की उत्पत्ति, भृगु द्वारा अग्नि को शाप, च्यवन-सुकन्या से प्रमाति की उत्पत्ति, प्रमाति से घृताची—अप्सरा के गर्भ से रुरु की उत्पत्ति। रुरु और प्रमदवरा का विवाह।

३ आस्तीक उपाख्यान (अध्याय १३)

विशेष विवरण—जरत्कारु कन्या से आस्तीक की उत्पत्ति।

४ अध्याय १४—मे कद्रु और विनता की प्रतिस्पर्धा

५ अध्याय १५+१६+१७ मे अमृत के लिए समुद्र-मन्थन

६ अध्याय १४-३४ तक कद्रु-विनता उपाख्यान, कद्रु के पुत्रो सर्पों और नागो और विनता के पुत्र गरुड के बीच संघर्ष और कद्रु द्वारा अपने पुत्रों को शाप, ब्रह्मा द्वारा शापमुक्ति का उपाय।

७ अध्याय ४१ से ४४ तक—विस्तार मे जरत्कारु की कथा, आस्तीक उपाख्यान का प्रारम्भ, जरत्कारु से वासुकि का आग्रह कि वह उनकी बहिन को

पत्नी के रूप मे ग्रहण करे। जरत्कारु का पत्नी-त्याग, जरत्कारु के गर्भ से आस्तीक की उत्पत्ति।

८ अध्याय ४५ से ५३ तक—जनमेजय के नागयज्ञ की कथा। आस्तीक द्वारा नागयज्ञ की समाप्ति और वैशम्पायन से जनमेजय का भारत-आख्यान श्रवण प्रारम्भ।

९ अध्याय ६२ से ६६ तक- -दुष्यन्त—शकुन्तला आख्यान, मेनका-विश्वामित्र से शकुन्तला की उत्पत्ति का उपाख्यान।

१० अध्याय ७१ से ८८ तक—ययाति-आख्यान

विशेष—देवयानी—शर्मिष्ठा की स्पर्धा की कथा। ययाति को शुक्र द्वारा बुढापे का शाप। ययाति को अपने श्वसुर शुक्र से अकाल वृद्ध होने का शाप। ययाति को अपने पुत्रो मे से पुरु से यौवन दानरूप मे मिलना और पुरु का राज्याभिषेक करके ययाति का स्वर्ग से पतन। अष्टक के प्रयत्न से ययाति की पुन स्वर्ग-प्राप्ति।

११ अध्याय ९१ से ९४ तक—शान्तनु—गंगा उपाख्यान, भीष्म की उत्पत्ति शान्तनु का सत्यवती (दाशराज की कन्या) से विवाह। भीष्म की भीष्म-प्रतिज्ञा।

१२ अध्याय ९८ मे—उतथ्य की कथा। ममता से से दीर्घतमा की उत्पत्ति।

१३ अध्याय १०१ मे—अणीमाण्डव्य कथा। अणीमाण्डव्य द्वारा अभिशप्त धर्म का शूद्र योनि मे, विदुर के रूप मे उत्पत्ति।

१४ अध्याय १६५ से १७३ तक—विश्वामित्र—वशिष्ठ सघर्ष कथा। पराशर के कहने पर वशिष्ठ द्वारा क्रोध-त्याग।

१५ अध्याय १८९ मे—द्रौपदी के पूर्वजन्म-वृत्तान्त की कथा

१६ अध्याय २०१-२०४ तक—तिलोत्तमा के कारण सुन्द-उपसुन्द का आपस मे लडकर नष्ट होना।

अरण्य पर्व के आख्यान-उपाख्यान

१ सौभवध का उपाख्यान (अध्याय १५ से २३ तक)

विशेष विवरण—द्यूत के समय अपने अनुपस्थित रहने के कारण बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण का सौभवध का उपाख्यान कहना। युधिष्ठिर की राजसूय मे शिशुपाल का भगवान द्वारा वध, उसका समाचार सुन कर शिशुपाल के भाई

शाल्वराज का क्रोधित होकर कृष्ण से शून्य द्वारिका पर आक्रमण। कृष्ण के पुत्र साम्ब, प्रद्युम्न आदि का शाल्व से युद्ध। प्रद्युम्न तथा शाल्व का युद्ध, शाल्व द्वारा प्रद्युम्न की पराजय। होश में आने पर प्रद्युम्न का दिव्यास्त्र के द्वारा शाल्व को पीड़ित करना, अन्त में उसके वध के लिए अजेय शर का सन्धान करना। श्रीकृष्ण का लौटकर द्वारिका के विध्वंस को देख कर क्रोधित होना। शाल्ववध की प्रतिज्ञा करके युद्ध के लिए भगवान् का प्रस्थान, शाल्व का मायायुद्ध, अन्त में भगवान् के द्वारा शाल्व तथा उसके नगर सौभ का विनाश।

२ प्रह्लाद और विरोचन संवाद (अध्याय २६ में)

विशेष विवरण—प्रह्लाद और विरोचन के पुत्र बलि का संवाद। प्रह्लाद द्वारा बलि को क्षमा और क्रोध का महत्त्व एवं दोष बताना। यथासमय क्रोध एवं क्षमा दोनों ही का विशेष महत्त्व है।

३ नलोपाख्यान (अध्याय ४६ से ७८ तक)

विशेष विवरण—नैषध के राजा भीमसेन का पुत्र नल तथा विदर्भराज भीम की पुत्री दमयन्ती का विवाह। पुष्कर का छल से राजा नल को जुए में जीतना। नल का पराभव। जुए में मस्त होकर नल सोना, चाँदी, हाथी, घोड़े इत्यादि सभी दाँव पर लगा देते हैं, अंत में पुष्कर का दमयन्ती को बाजी लगाने को कहना। नल का पुष्कर पर क्रुद्ध होना। नल-दमयन्ती का वन गमन वन में दमयन्ती को छोड़ कर नल का चला जाना। दमयन्ती को सर्पदंश, शिकारी द्वारा प्राण रक्षा तथा मोहित होकर कामेच्छा व्यक्त करना। दमयन्ती का क्रुद्ध होकर उसे शाप देना। दमयन्ती विलाप। अन्त में नल दमयन्ती का मिलन।

४ अगस्त्योपाख्यान (अध्याय ४६ से लेकर १०३ तक)

विशेष विवरण—लोमश ऋषि के द्वारा अगस्त्य का उपाख्यान। इल्वल का वातापि को बकरा बना कर ऋषियों को खिलाना। पुकारे जाने पर वातापि का पेट फाड़ कर निकल आना। इसी बीच सन्तान के अभाव में अगस्त्य का अपने पितरों का गड्ढे में नीचे मुँह किये हुए लटकते दिखाई देना। अतः सन्तानोत्पत्ति से प्रेरित होकर लोपामुद्रा से विवाह तथा उससे दृढस्यु नामक पुत्र उत्पन्न करना। वृत्र-वध के लिए वज्र तैयार करने के निमित्त इन्द्र का दधीचि के पास उनकी हड्डियाँ माँगना। दधीचि का अस्थिदान। उन अस्थियों से बने वज्र से इन्द्र का वृत्र का मारा जाना। वृत्र वध के बाद असुरों का समुद्र में प्रवेश। अगस्त्य का समुद्रपान तथा विन्ध्य का गर्वहरण।

५ सगरोपाख्यान तथा गंगावतरण उपाख्यान
(अध्याय १०४ से १०८ तक)

विशेष विवरण—राजा सगर का अश्वमेध यज्ञ। अश्व की चोरी। सगर पुत्रों के द्वारा सागर खनन। कपिल के आश्रम में अश्व को देखकर सगर पुत्रों का कपिल पर आक्षेप। क्रुद्ध हुए कपिल का सगरपुत्रों का भस्म करना। सगर के पौत्र असमंजस द्वारा अश्व लाने पर सगर के यज्ञ की समाप्ति। भगीरथ का तपस्या करके देव नदी गंगा को पृथ्वी पर लाना। गंगाजल से सगर पुत्रों का तर्पण तथा समुद्र का भरा जाना।

६ ऋष्यश्रृंग उपाख्यान (अध्याय ११० से ११४ तक)

विशेष विवरण—काश्यपगोत्री विभाण्डक के वीर्य से हिरणी में ऋष्यश्रृंग की उत्पत्ति। अंगराज लोमपाद के राज्य में अनावृष्टि। एक वेश्या के द्वारा लुभाकर ऋष्यश्रृंग को राज्य में लाना। राज्य में वृष्टि होना। प्रसन्न होकर लोमपाद का अपनी कन्या शान्ता का विवाह ऋष्यश्रृंग से करना।

७ परशुराम का उपाख्यान (अध्याय ११५ से ११७ तक)

विशेष विवरण—परशुराम के शिष्य अकृतव्रण के द्वारा परशुराम के जन्म का वृत्तान्त कहना। सहस्रबाहु कार्तवीर्य अर्जुन के द्वारा परशुराम के पिता जमदग्नि का वध। इस वध से क्रुद्ध होकर परशुराम का अर्जुन को मारना। क्षत्रिय संहार।

८ सुकन्योपाख्यान (अध्याय १२२ से १२४ तक)

विशेष विवरण—बूढ़े च्यवन की तपस्या। शर्याति की पुत्री सुकन्या का च्यवन की आँखें फोड़ना। प्रायश्चित्त के रूप में राजा का च्यवन को अपनी कन्या दे देना। सुकन्या की प्रार्थना पर अश्विनीकुमारों का बूढ़े च्यवन को युवा बना देना। च्यवन का अश्विनीकुमारों को सोमपान का अधिकारी बनाना। इन्द्र का विरोध। इन्द्र-वध के लिए च्यवन का कृत्या को उत्पन्न करना। भयभीत होकर इन्द्र की क्षमायाचना।

९ मान्धाता उपाख्यान (अध्याय १२६)

विशेष विवरण—राजा युवनाश्व द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ में पुत्र प्राप्ति के लिए अभिमन्त्रित जल को पी जाना। इसके वामपार्श्व को भेदकर एक पुत्र का उत्पन्न होना। इन्द्र के द्वारा उसका नामकरण।

१० सोमक उपाख्यान (अध्याय १२४ से १२८ तक)

विशेष विवरण—राजा सोमक सौ स्त्रियों के होने पर नि सन्तान थे। एक दिन अचानक एक स्त्री के गर्भ से 'जन्तु' नामक पुत्र का उत्पन्न होना। सोमक द्वारा सौ पुत्रों की कामना हेतु यज्ञ करना, उसमे अपने एक मात्र पुत्र 'जन्तु' की जबरदस्ती बलि देना। उसकी हव्यगंध से सौ स्त्रियों का एक साथ गर्भवती होना, राजा सोमक को सौ पुत्रों की प्राप्ति।

११ उशीनर उपाख्यान

विशेष विवरण—अग्नि और इन्द्र का कबूतर और बाज बन कर राजा शिवि के पास जाने तथा कबूतर के स्थान पर बाज के लिए शिवि का स्वय को समर्पित कर देने पर अग्नि तथा इन्द्र का शिवि को वरदान देना।

१२ अष्टावक्रीय उपाख्यान (अध्याय १३२ से १३४ तक)

विशेष विवरण—धनप्राप्ति के लिए कहोड का जनक के पास जाना। जनक के दरबारी पण्डित बन्दी के द्वारा कहोड का शास्त्रार्थ मे पराभव। बन्दी का कहोड को जल मे डुबाकर मरवा देना। कहोड के पुत्र अष्टावक्र का अपने पिता की मृत्यु का समाचार जानकर स्वय शास्त्रार्थ के लिए जाना और बन्दी को हराकर उसे मृत्यु दड दिलवाना।

१३ यवक्रीतोपाख्यान (अध्याय १३५ से १३८ तक)

विशेष विवरण—यवक्रीत का रैभ्य के आश्रम मे जाकर रैभ्य की पत्नी के साथ समागम करना। रैभ्य द्वारा राक्षस भेजकर यवक्रीत को मरवाना। यवक्रीत के पिता का रैभ्यका उसके बडे पुत्र द्वारा मारे जाने का शाप देना। रैभ्य के पुत्र अर्वावसु-परावसु का यज्ञ कराने के लिए जाना। परावसु का रात मे आकर अँधेरे मे अपने पिता रैभ्य को पशु समझकर मार देना। ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करने के लिए परावसु का अर्वावसु को नियुक्त करना। अन्त मे ब्रह्म हत्या से छूटकर पवित्र हो जाना।

१४. नहुप का शाप मे अजगर होने का उपाख्यान (अध्याय १७८)

विशेष विवरण—अजगर के रूप मे नहुप का भीम को अपना परिचय देना और भीम को पाश मे बाँधना। भीम को न देखकर युधिष्ठिर का चिन्ताकुल होना और ढूँढते हुए भीम को अजगर के वश मे देखना। नहुप के प्रश्नो के युधिष्ठिर के द्वारा उत्तर। प्रसन्न होकर अजगर का भीम को छोडना और नहुप का दिव्य रूप धारण करके स्वर्गलोक को प्रस्थान।

१५. वैन्य उपाख्यान (अध्याय १८३)

१६ सरस्वती गीत (अध्याय १८४)

गरुड और सरस्वती का सवाद

विशेष विवरण—पाण्डवो से मिलने भगवान् कृष्ण का आना। कृष्ण और पाण्डवो के सामने मार्कण्डेय का अनेक कथाओ का कहना। तार्क्ष्य-सरस्वती का सवाद।

१५ प्रलय और मत्स्यावतार का उपाख्यान (अध्याय १८५)

१६ मार्कण्डेय उपाख्यान (अध्याय १८६-१८७)

विशेष विवरण—प्रलय काल के बीच मे मार्कण्डेय का घूमते-घूमते एक वट वृक्ष पर बालमुकुन्द का दर्शन। बालक के पेट मे प्रविष्ट होकर अनेक आश्चर्यों का दर्शन। मार्कण्डेय का भगवान् कृष्ण को ही आदिदेव बताना। युधिष्ठिर के पूछने पर मार्कण्डेय का चारो युगो के व्यवहार का वर्णन करना।

१६ मण्डूकोपाख्यान—मण्डूक और मण्डूकी उपाख्यान तथा वामदेव उपाख्यान (अध्याय १६०)

टिप्पणी—मण्डूकोपाख्यान, इन्द्रद्युम्नोपाख्यान, धुन्धुमारोपाख्यान, पतिव्रतोपाख्यान, धर्मव्याध का उपदेश, अगिरसो की उत्पत्ति एव उनका वर्णन, स्वाहा द्वारा ऋषि पत्नियो का रूप बना कर अग्नि के साथ समागम करना। अग्नि के वीर्य से स्कन्द की उत्पत्ति। इन्द्र के द्वारा महिषासुर का वध। इन्द्र द्वारा केशी राक्षस से देवसेना की रक्षा तथा स्कन्द और देवसेना के विवाह का वर्णन। ये सभी मार्कण्डेय समास्यापर्व मे हैं।

१८ दीर्घजीवी उपाख्यान (अध्याय १६१)

विशेष विवरण—मार्कण्डेय के अतिरिक्त इन्द्रद्युम्न, नारीजन बगुला, अकूपार कछुवा, और प्राकारकर्म उल्लू एव अन्य दीर्घजीवियो की कथा।

१६ वैन्य उपाख्यान (अध्याय १६३)

विशेष विवरण—महाराज वैन्य के द्वारा अश्वमेध यज्ञ के लिए दीक्षा धन की कामना से अत्रि मुनि का वहाँ जाना तथा वैन्य की स्तुति। वैन्य द्वारा धन प्राप्ति का वरदान।

२० तार्क्ष्य और सरस्वती का सवाद (अध्याय १८४)

विशेष विवरण—सरस्वती द्वारा तार्क्ष्य को धर्म और कर्म का गुरुपदेश। तार्क्ष्य द्वारा अग्निहोत्र का सनातन नियम पूछना। सरस्वती द्वारा यह बताना

कि श्रद्धालु और सत्यव्रत व्यक्ति अग्निहोत्री हो तथा सरस्वती द्वारा यह बताना कि इन्द्र अग्नि और मरुद्गण जिसकी प्राप्ति के लिए यज्ञ से यजन करते हैं वह परब्रह्म ही मेरा प्राप्य स्थान है।

२१ प्रलय और मत्स्य का उपाख्यान (अध्याय १८५)

विशेष विवरण—विरजा नदी के तीर पर भीगे वस्त्र और चीर और जटाधारी मनु के पास मत्स्य की उद्धार के लिए कामना करना। विवस्वान के पुत्र मनु का उसे पकड कर जलपात्र म छोडना उसका पुत्रवत् पालन-पोषण बडा होने पर गगा म डालना और बडा आकार होने पर उसे समुद्र म डालना। प्रलय काल के सन्निकट होने पर मनु का सप्तऋषियो सहित उसम चढना सब वस्तुओ के बीजो का उसम क्रम म रखना। मत्स्य का सींग युक्त होकर महा समुद्र म आना, मनु का नाव की रस्सियो का सींगो म बाँधना। खींचते हुए नाव का हिमाचल पर पहुँचना। उसके ऊँचे शिखर पर नाव बाँधना। मत्स्य का अन्तर्धान होना। तप से मनु द्वारा सृष्टि रचना।

२२ धुन्धुमार उपाख्यान (अध्याय १९२ से १९५ तक)

(अ) उसी के अन्तर्गत उत्तक उपाख्यान (अध्याय १९३ से १९४ तक)

विशेष विवरण—उत्तक का विष्णु को प्रसन्न करने के लिए तप करना। विष्णु का वरदान देना। उत्तक ने वर माँगा कि मेरी बुद्धि सदा धर्म तथा सत्य और इन्द्रियो के जीतने म लगी रह और आपकी भक्ति मे सदा अभ्यास रहे। विष्णु का वर देना कि इक्ष्वाकु कुलोत्पन्न बृहदश्व का पुत्र कुवलाश्व मेरे योग्य योग का आराधन करेगा। तत्पश्चात तुम्हारे शासन म वह धुन्धुमार होगा।

(ब) उसी के अन्तर्गत मधुकैटभ वध उपाख्यान (अध्याय १९४ म)

विशेष विवरण—भगवान अच्युत का नाग के फन पे पृथ्वी को लपेट कर सोना। विष्णु की नाभि से कमल निकलना एव कमल स ब्रह्मा की उत्पत्ति। मधुकैटभ का वहाँ पहुँच कर ब्रह्मा को डराना। फिर विष्णु से वर माँगना कि हम जलरहित स्थान म मरें तथा दोनो तुम्हारे पुत्र हो। विष्णु द्वारा जघा को जलरहित देख कर, उसी पर मधुकैटभ के सिर को रख कर तेजधार वाले चक्र से काट डालना।

(स) उसी के अन्तर्गत धुन्धुवध का उपाख्यान (अध्याय १९५ म)

विशेष विवरण—मधुकैटभ का महापराक्रमी पुत्र धुन्धु हुआ। उसकी तपस्या, ब्रह्मा का प्रसन्न होना तथा वर माँगने के लिए कहना। उसका वर माँगना कि मैं दानव गन्धर्व यक्ष राक्षस और सर्पों से न मारा जाऊँ। कुवा-

लाश्व और धुंधु का भयानक युद्ध । धुन्धु को मारने से राजा कुवलाश्व का धुन्धुमार के नाम से प्रसिद्ध होना।

२३ धर्म-व्याध उपाख्यान (अध्याय १६४ से २०६ तक)

इस उपाख्यान मे कौशिक ब्राह्मण न आत्मज्ञान और धर्म के मर्म को जानने वाले व्याध से व्याध के निवास स्थान जनकपुरी म जाकर धर्म का लक्षण पूछा, व्याध ने धम के प्रयोजन और अभिप्राय को समझाया। इस प्रसग मे जनकपुरी का भी वर्णन हुआ है। यद्यपि व्याध धम से हिंसा काय करता है तथापि वह धमवेत्ता है क्योकि वह ब्रह्मा द्वारा निधारित वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था का परिपालन करते हुए भी उससे निर्लिप्त है, निर्लिप्त करना ही धर्म का प्रयाजन है।

२४ अग्नि-अगिरा-स्कन्द आख्यान

इस उपाख्यान म अग्निदेवता कैसे बन गये ? महर्षि अगिरा ने किस प्रकार अग्नि के नष्ट होने पर स्वय अग्नि होकर यज्ञो की आहुति को देवो तक पहुँचाया क्योंकि अग्नि का मुख्य कार्य हुत आहुति को देवो तक पहुँचाना है ? अग्नि एक है, पर वह अनेक कर्मो म भिन्न भिन्न अनेक कैसे प्रतीत होती ? कुमार कार्तिकेय कैसे उत्पन्न हुए ? वे कैसे अग्नि के पुत्र हुए ? गगा और कृत्तिका ने किस तरह उत्पन्न किया ? इन प्रसगो का वर्णन मिलता है।

२५ रामाख्यान अध्याय (अध्याय १२८ से २७५ तक)

इस आख्यान मे राम की कथा वर्णित हुई है। किस कुल मे राम ने जन्म लिया ? बल और पराक्रम मे वे कैसे थे ? रावण किसका पुत्र था ? राम का रावण से वैर क्यो हो गया ? आदि प्रश्न युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय से पूछे हैं और इनका समाधान मार्कण्डेय ने किया है। इस प्रकार इस आख्यान मे राम चरित्र का सम्पूर्ण वर्णन मिलता है, जो वाल्मीकि की राम-कथा से बिल्कुल मेल खाता है।

२६ सावित्री उपाख्यान अध्याय (अध्याय २७७ से २८३ तक)

द्रौपदी की स्थिति की तुलना म यह उपाख्यान सावित्री की कथा को व्याख्यायित करता है।

उद्योगपर्व के आख्यान एव उपाख्यान

१ नहुष एव त्रिशिरा आख्यान (अध्याय ६ से १८ तक)

विशेष विवरण—इन्द्र के द्रोह से प्रजापति का त्रिशिरस् नामक पुत्र उत्पन्न करना। त्रिशिरस की तपस्या। उसकी तपस्या से इन्द्र का घबरा जाना। वज्र से उसका वध करना। पुत्रवध के दुःख से दुखी त्वष्टा प्रजापति का इन्द्रनाश के निमित्त वृत्र को उत्पन्न करना, वृत्र इन्द्र का घोर युद्ध, इन्द्र का पराभव, अन्त मे विष्णु की सहायता से इन्द्र द्वारा वृत्र वध। ब्रह्महत्या के भय से इन्द्र का गुप्त हो जाना। नहुष का देवराज के पद पर अभिषेक तथा उसके मन मे *इन्द्राणी की कामना। इन्द्राणी के द्वारा नहुष के सामने सात ऋषियो से* ढोयी जाती हुई पालकी मे आने की शर्त रखना। मार्ग मे नहुष का अपने पैर से अगस्त्य ऋषि को छू देना। अगस्त्य ऋषि के शाप से नहुष का सर्पयोनि मे जन्म लेना।

२ विरोचन-आख्यान

विदुरनीति के अन्तर्गत केशिनी की सुधन्वा से विवाह करने की इच्छा। विरोचन और सुधन्वा का प्राणो की बाजी लगा कर, विरोचन के पिता प्रह्लाद से यह पूछना कि हम दोनो मे कौन श्रेष्ठ है। प्रह्लाद का निर्णय कि सुधन्वा के पिता अगिरस मुझसे श्रेष्ठ हैं, अत सुधन्वा विरोचन से श्रेष्ठ है। अत मे केशिनी के निकट जाकर विरोचन का सुधन्वा के पैर धोना।

३ नरनारायण उपाख्यान (अध्याय ४)

विशेष विवरण—राजा दम्भोदभव एव नरनारायण ऋषियो की कथा। दम्भोद्भव का नरनारायण ऋषियो पर आक्रमण, ऋषियो के द्वारा राजा का पराभव। (कण्व द्वारा दुर्योधन को उपदेश के निदर्शन के रूप मे यह उपाख्यान आया है।)

४ मातालि उपाख्यान (अध्याय ६५ से १०८ तक)

विशेष विवरण—इन्द्र सारथि मातालि का अपनी कन्या गुणकेशी के लिए वर ढूँढने नागलोक जाना। भोगवती पुरी मे मातालि का सुमुख को देख कर पसन्द करना। आयक का गरुड के द्वारा सुमुख की मृत्यु का समाचार कहना। *मातालि का सुमुख को इन्द्र और विष्णु के पास ले जा कर दीर्घायु देने की प्रार्थना* करना। इन्द्र का विष्णु के कहने से सुमुख को चिरजीवी बनाना। यह सुन कर गरुड का विष्णु के पास जा कर उन्हें फटकारना। विष्णु के द्वारा गरुड का अभिमान हरना।

५ गालव-आख्यान (व्यासोपदेश के अन्तर्गत)
(अध्याय १०४ से ११७ तक)

विशेष विवरण—गालव के द्वारा विश्वामित्र की सेवा। गालव के गुरुदक्षिणा के लिए बहुत जोर देने पर क्रुद्ध होकर विश्वामित्र का आठ सौ एक तरफ काले कान तथा सफेद शरीर वाले घोडे माँगना। गरुड की सहायता, गरुड की पीठ पर बैठ कर गालव की सभी दिशाओं में जाना। गरुड को अपने अपराध का दण्ड मिलना।

५ (अ) ययाति उपाख्यान (गालव आख्यान के अन्तर्गत)
(अध्याय ११८ से १२१ तक)

विशेष विवरण—गालव तथा गरुड का घोडों के लिए ययाति के पास आना। ययाति का अपनी असमर्थता दिखा कर अपनी कन्या माधवी को देना। गालव का हर्यश्व के पास आ कर आठ सौ घोडे दे कर माधवी से चार पुत्र उत्पन्न करने के लिए कहना। हर्यश्व का दो सौ घोडे दे कर माधवी में एक पुत्र उत्पन्न करना। इसी तरह दो सौ—दो सौ घोडे दे कर दिवोदास तथा उशीनर का माधवी में एक एक पुत्र उत्पन्न करना, अन्त में विश्वामित्र के द्वारा माधवी से अष्टक नामक पुत्र पैदा करना। ययाति का स्वर्गभ्रष्ट होकर पृथ्वी पर गिराना। उसके दौहित्रों द्वारा पुनरुद्धार।

६ विदुरोपाख्यान

विशेष विवरण—विदुरा नाम की एक राजपुत्री ने एक बार सिन्धुराज से पराजित विदुरा अपने सगे पुत्र की निन्दा करते हुए, उसे युद्ध के लिए प्रेरित करने तथा युद्ध में साहसी एवं पराक्रमी बनने का उपदेश किया तो धर्म को आगे रख कर अपना पराक्रम प्रकट करो अथवा मृत्यु को प्राप्त हो। कायरता-पूर्ण जीने से क्या लाभ ? माता की आज्ञा सुन कर संजय का समस्त कार्यों को पूर्ण करना।

७ शिखण्डी वृत्तान्त (अम्बा का आख्यान)
(अध्याय १७१ से लेकर १९३ तक)

विशेष विवरण—भीष्म द्वारा शिखण्डी के सामने अपने शस्त्र-त्याग का कारण बताना। विचित्र वीर्य के लिए भीष्म द्वारा काशिराज की तीन कन्या अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका का अपहरण। भीष्म से अनुमति पा कर अम्बा का शाल्वपति के पास जाना। शाल्वपति के द्वारा अम्बा का ठुकरा दिया जाना। अम्बा का अपने इस अपमान के लिए भीष्म को दोषी बता कर उन्हें दण्ड देने का

निश्चय करना। अम्बा के कहने पर परशुराम का भीष्म को दण्ड देने का निश्चय, परशुराम भीष्म का कुरुक्षेत्र में युद्ध, अम्बा का भीष्मवध के लिए स्वयं तपस्या करने के निश्चय पर भीष्म की माता गंगा का अम्बा को आधे भाग से कुटिला नदी हो जाने का शाप। अम्बा का दूसरा शरीर धारण करके, भीष्म वध की प्रतिज्ञा करके अग्नि प्रवेश आदि।

उत्तरार्द्ध में सन्तानहीन द्रुपद द्वारा शंकर की आराधना। कन्या प्राप्ति का वरदान मिलना। पुत्र प्राप्ति की प्रार्थना पर कन्या का पुत्र बन जाना। द्रुपद का अपनी कन्या का हिरण्यवर्मा की पुत्री से विवाह करना। हिरण्यवर्मा का क्रुद्ध होकर द्रुपद पर आक्रमण। शिखण्डी का वन में जाकर मरने का निश्चय करना। वन में स्थूणाकर्ण का शिखण्डी को अपना पुरुषत्व देकर स्वयं उसका स्त्रीत्व ग्रहण करना। प्रसन्न हुए शिखण्डी का वापिस लौटना। उसी समय यक्षराज कुबेर का स्थूणाकर्ण के पास आगमन। स्थूणाकर्ण के वृत्तान्त को जान कर कुबेर का उसे शिखण्डी के मरने तक स्त्रीरूप में रहने का शाप देना। पुरुषत्व प्राप्त शिखण्डी की हिरण्यवर्मा के द्वारा परीक्षा तथा उनका प्रसन्न होना।

भीष्मपर्व के आख्यान-उपाख्यान

जम्बू खण्डनिर्माण पर्व

इसमें युद्ध के समय में अथवा युद्ध के प्रभाव से प्रभावित होने वाले संसार का चित्र खींचा गया है। युद्धकालीन भयावह स्थितियाँ अंकित हुई हैं। चतुर्थ अध्याय में यह कहा गया है कि काल ही जगत का संहार करता है, लोकों का उत्पन्न करता है। संसार में कोई भी वस्तु चिरस्थायी नहीं है। कुरुक्षेत्र में आने वाले जीवों, उनके जनपदों, देशों नगरों, हेमकूट निषध आदि पर्वतों, वनों, नदियों और हेमवतवर्ष तथा हरिवर्ष के साथ ही भारतवर्ष तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल का वर्णन है। □

शान्ति पर्व के इतिहास

शीर्षक	सन्दर्भ	विवरण
१ ऐल-कश्यप सवाद	शान्ति/राजधर्म/७४	ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग के सहयोग से राज्य रक्षित होता है।
२ मुचुकुन्द और राजा वैश्रवण सवाद	शान्ति/राजधर्म/७५	मुचुकुन्द और यक्षराज वैश्रवण के युद्ध का वर्णन है।
३ कैकयराज-राक्षस सवाद	शान्ति/राजधर्म/७८	राज्य मे ब्राह्मणों की स्थिति को बताया गया है।
४ वासुदेव देवर्षि नारद सवाद	शान्ति/राजधर्म/८२	किससे मित्रता उपयुक्त होती है, यह बात स्पष्ट की गयी है।
५ कालकवृक्षीय मुनि और कौसल्य-वृत्तान्त	शान्ति/राजधर्म/८३	राजा को किस प्रकार राजकोष व प्रजा के धन की रक्षा करनी चाहिए, यह इंगित किया गया है।
६ वृहस्पति-शक्र (इन्द्र) सवाद	शान्ति/राजधर्म/८५	प्रजा-सग्रह-वृत्ति का स्पष्ट किया गया है।
७ वामदेव और वसुमना कथा	शान्ति/राजधर्म/९३	धर्मात्मा राजा का आचरण बताया गया है।
८ अम्बरीष और इन्द्र सवाद	शान्ति/राजधर्म/९९	युद्ध मे मारे गए वीर पुरुष कहा जन्म लेते है, यह अकित किया गया है।
९ राजा प्रतर्दन और मिथिलापति जनक युद्ध	शान्ति/राजधर्म/१००	प्रतर्दन और जनक के युद्ध का कारण बताया गया है।
१० वृहस्पति इन्द्र सवाद	शान्ति/राजधर्म/१०४	शत्रु के साथ प्रारम्भ मे कैसा व्यवहार किया जाय, यह बताया गया है।
११ क्षेमदर्शीय राजा का इतिहास	शान्ति/राजधर्म/१०५	धर्मात्मा राजा सेवको से प्रबाधित कोष और दण्ड से च्युत तथा अर्थलाभ मे असमर्थ होकर सुख की

		अभिलाषा के लिए कैसा आचरण करें, यह निर्दशित किया गया है।
१२ व्याघ्र-गोम सवाद	शान्ति/राजधर्म/११२	अप्रिय प्रिय जैसे, तथा अप्रिय कैसे लगते हैं, वस्तुत ऐसे पुरुषो को कैसा माना जाय, यह निर्दशित किया गया है।
१३ सरिता-सागर सवाद	शान्ति/राजधर्म/११४	दुर्बल राजा को बलवान् राजा के सामने कैसे रहना चाहिए, इसका उदाहरण दिया गया है।
१४ सज्जन-आचरण	शान्ति/राजधर्म/११७	सज्जनो से आचरित लोक समाज मे सदा परम प्रमाण रूप मे लिया जाने वाला होता है, इसका निदर्शन।
१५ वसुहोम-कथा	शान्ति/राजधर्म/१२२	अगदेश मे वसुहोम राजा कैसा था, उसकी कथा।
१६ कामन्द व अगारिष्ठ-सवाद	शान्ति/राजधर्म/१२३	धर्म-अर्थ और काम के बीच सतुलन का निदर्शन।
१७ नारद-प्रोक्त शील	शान्ति/राजधर्म/१२४	शीलधर्म का निदर्शन।
१८ सुमित्र-ऋषभ सवाद	शान्ति/राजधर्म/१२५	आशा के अभाव का निदर्शन।
१९ गौतम-यम सवाद	शान्ति/राजधर्म/१२७	धर्म की निदर्शन-कथा।
२० मर्यादा	शान्ति/आपद्धर्म/१३३	मनुष्य डाकू होकर भी मर्यादा युक्त होने पर नरकगामी नहीं होता, यह व्याख्यायित किया गया है।
२१ कार्य-अकार्य आख्यान	शान्ति/आपद्धर्म/१३५	
२२ भरद्वाज-राजा शत्रुतप-सवाद	शान्ति/आपद्धर्म/१३८	आपत्काल नीति वर्णित है।
२३ विश्वामित्र-चडाल सवाद	शान्ति/आपद्धर्म/१३९	आपत्काल मे राजा का कर्तव्य कैसा हो, इसका निदर्शन।

२४	जनमेजय-शुनकनन्दन कथा	शान्ति/आपद्धर्म/१४६	राजा जनमेजय द्वारा शुनकनन्दन ऋषि को धर्म की वृद्धि करने वाली सेवा का वर्णन है।
२५	सत्यवान् की गाथा	शान्ति/आपद्धर्म/१४८	सत्यवान् का त्याग वृतान्त वर्णित है।
२६	शाल्मलि-पवन सवाद	शान्ति/आपद्धर्म/१५०	नारद की शल्मलि वृक्ष से वार्ता है।
२७	सेनजित्-कथा	शान्ति/मोक्षधर्म/१६८	ब्राह्मण और राजा सेनजित् का वृत्तान्त वर्णित है।
२८	पिता-पुत्र सवाद	शान्ति/मोक्षधर्म/१६९	सब प्राणियों के क्षय करने वाले समय मे किस प्रकार कल्याण सम्भव है, इसका निदर्शन।
२९	शम्याक कथित इतिहास	शान्ति/मोक्षधर्म/१७०	धनवान् और निर्धनो का सुख-दुःख कैसा और किस प्रकार का होता है, इसका निरूपण।
३०	मंकि कथित इतिहास	शान्ति/मोक्षधर्म/१७१	मंकि की कथा के माध्यम से सुख का स्वरूप निरूपण।
३१	प्रह्लाद और मुनि अजगर सवाद	शान्ति/मोक्षधर्म/१७२	मनुष्य का पृथ्वी पर शोक-रहित विचरण करने का तथा उत्तम गति प्राप्त करने का उपाय बताया गया है।
३२	इन्द्र-काश्यप सवाद	शान्ति/मोक्षधर्म/१७३	बुद्धि ही प्रतिष्ठा प्राप्त कराने का सर्वश्रेष्ठ विषय है।
३३	भारद्वाज के प्रश्न के उत्तर मे भृगु मुनि के द्वारा कथित इतिहास	शान्ति/मोक्षधर्म/१७५	सृष्टि, विलय तथा जीवात्मा का स्वरूप बताया गया है।
३४	यम, काल तथा ब्राह्मण के सवाद	शान्ति/मोक्षधर्म/१९०	जप, जाप्य तथा जापक से सम्बन्धित चर्चा।
३५	राजा इक्ष्वाकु, सूर्यपुत्र यम और ब्राह्मणो के विवाद से सम्बन्धित इतिहास	शान्ति/मोक्षधर्म/१९२	काल और मृत्यु से सम्बन्धित घटना तथा वार्ता का विवेचन है।

३६ मनु और बृहस्पति सवाद	गान्ति/मागधम/१६४	नियमा का प्रयाजन तथा परमात्मा के जानने का प्रकार बताया गया है।
३७ गुरु शिष्य सवाद इतिहास	शान्ति/मोक्षधम/२०३	मोक्ष विषय का परम ज्ञान वर्णित है।
३८ जनक की कथा	शान्ति/मोक्षधर्म/२११	लोक व्यवहार और सुख मय मोक्ष म समन्वय कैसे हो इसका निरूपण।
३९ प्रह्लाद इन्द्र सवाद	शान्ति/मोक्षधम/२१५	मनुष्य शुभाशुभ कर्मों का कर्ता होता है अथवा नहीं यह बात यहाँ व्याख्यायित हुई है।
४० विरोचनपुत्र बलि—देवराज इन्द्र-सवाद	शान्ति/मोक्षधम/२१६	कालदण्ड स विपदग्रस्त तथा श्री भ्रष्ट राजा की चर्या की बात कही गयी है।
४१ इन्द्र-नमुचि सवाद	शान्ति/मोक्षधम/२१९	श्रीहीन तथा शत्रुओ के वशीभूत होने पर शोक नहीं करना चाहिए इसका उपदेश।
४२ बलि इन्द्र सवाद	शान्ति/मोक्षधम/२२०	धैर्य ही आपत्ति म सबसे बड़ा सहायक होता है इसका निदर्शन।
४३ श्री-शक्र सवाद	शान्ति/मोक्षधम/२२१	मन ही मनुष्यों की भावी उन्नति तथा अवनति का प्रकाशित करता है इसका निदर्शन।
४४ असितदेवल जैगीषव्य सवाद	शान्ति/मोक्षधम/२२२	श्रेष्ठ अविनाशी और ब्रह्म पद को प्राप्त करने के लिए कैसे चरित्र, आचार विद्या और आश्रय स युक्त होना चाहिए इसका निरूपण।
४५ तुलाधार-जाजलि वार्ता	शान्ति/मोक्षधम/२५३	धर्म के विषय म निरूपण।
४६ राजा विचख्नु का कथन इतिहास	शान्ति/मोक्षधम/२५७	प्रजा कल्याण की बात कही गयी है।

४७ चिरकारी-वृत्तान्त	शान्ति/मोक्षधर्म/२५८	अंगिरावंश में चिरकारी के किए हुए कर्म के कारण हुई घटना से सम्बन्धित है।
४८ राजा सत्यवान द्युमत्सेन संवाद	शान्ति/मोक्षधर्म/२५९	राजा को किस प्रकार प्रजा की रक्षा का दण्ड विधान करना चाहिए, इसका निरूपण।
४९ कपिल-गौ संवाद	शान्ति/मोक्षधर्म/२६०	गार्हस्थ्य और यागधर्म का व्याख्यान किया गया है।
५० देवल असित नारद संवाद	शान्ति/मोक्षधर्म/२६७	जीवोत्पत्ति और विनाश का कारण बतलाया गया है।
५१ जिज्ञासु माण्डव्य विदेहराज-संवाद	शान्ति/मोक्षधर्म/२६८	तृष्णा से निवृत्ति होने का उपाय बताया गया है।
५२ नारद समङ्ग संवाद	शान्ति/मोक्षधर्म/२७५	शोक, दुःख तथा मृत्यु के भय से छुटकारे का उपाय बताया गया है।
५३ गालवदेवर्षि नारद संवाद	शान्ति/मोक्षधर्म/२७६	कल्याण के उपाय बताए गये हैं।
५४ पंचशिख-जनक संवाद	शान्ति/मोक्षधर्म/३०७	जरा-मृत्यु से छूटने का उपाय बताया गया है।
५५ जनक-सुलभा संवाद	शान्ति/मोक्षधर्म/३०८	मोक्ष का परम तत्त्व व आत्मा के स्वरूप को बतलाया गया है।
५६ नारद-नारायण संवाद	शान्ति/मोक्षधर्म/३२१	देवताओं का देवता, पितरों का पिता, आराध्यों का आराध्य, और उससे भी श्रेष्ठ कौन है इसका निरूपण।
५७ ऋषि-वृन्द-देवता संवाद	शान्ति/मोक्षधर्म/३२५	वसु भगवान् के परम भक्त राजा उपरिचर स्वर्ग से पृथ्वी पर क्यों आये, इसकी कथा।
५८ ब्रह्मा-त्र्यम्बक संवाद	शान्ति/मोक्षधर्म/३३८	पुरुष एक है या अनेक तथा श्रेष्ठ कौन है, उसका

		उत्पत्ति स्थान क्या है, इसका निरूपण।

अनुशासन पर्व के इतिहास

१ काल व्याध और सर्प सहित मृत्यु और गौतमी-संवाद	अनुशा०/दानधर्म/१	कर्मों का कारण सूक्ष्म है, अतीन्द्रिय है तथा इसका प्रत्यक्ष मन से नहीं होता, इसका निरूपण।
२ इतिहास	अनुशा०/दानधर्म/२	गृहस्थी मनुष्य किस प्रकार धर्म की सहायता से मृत्यु को पराजित करता है, इसका निदर्शन।
३ वसिष्ठ-ब्राह्मण संवाद	अनुशा०/दानधर्म/६	दैव (भाग्य) और पुरुषार्थ में कौन-सा श्रेष्ठ है, इसका निरूपण।
४ शृगाल-वानर संवाद	अनुशा०/दानधर्म/६	दान की प्रतिज्ञा करने पर दान न देने पर होने वाली स्थिति बताई गई है।
५ भंगास्वन राजा और इन्द्र की शत्रुता से सम्बन्धित इतिहास	अनुशा०/दानधर्म/१२	स्त्री और पुरुष के परस्पर संयोग में वैषयिक सुख किसे अधिक होता है, इसका उत्तर दिया गया है।
६ अष्टावक्र दिक् संवाद	अनुशा०/दानधर्म/१६	पाणिग्रहण के समय स्त्री-पुरुष-सहधर्म क्या है, यह आर्ष धर्म है या प्राजापत्य या आसुर, इसका समाधान।
७ शिलोञ्छ वृत्ति सिद्ध संवाद	अनुशा०/दानधर्म/२७	कौन सा देश, कौन-सा जनपद, कौन-सा आश्रम, कौन-सा पर्वत, कौन-सी नदियाँ पुण्य प्रभाव में श्रेष्ठ हैं, यह समझाया गया है।

८ भीष्म प्रोक्त भागीरथी स्तव-सयुक्त इतिहास	अनुशा०/दानधर्म/२७	
९ मतग-गर्दभ सवाद	अनुशा०/दानधर्म/२८	जीव अनेक योनियो मे जन्म लेने के बाद कही किसी जन्म मे जाकर ब्राह्मण होता,है यह निर्दशित किया गया है।
१० नारद-वासुदेव सवाद	अनुशा०/दानधर्म/३२	मनुष्यो मे कौन पूज्य और नमस्कार करने योग्य है, इसका समाधान।
११ श्रीकृष्ण-पृथ्वी सवाद	अनुशा०/दानधर्म/३४	इस लोक मे जो कुछ कहा-सुना, देखा जाता है, वह सब लकडी के बीच मे छिपी अग्नि की भाँति ब्राह्मणो मे विद्यमान है, इसका निदर्शन।
१२ शक्र-शम्बर सवाद	अनुशा०/दानधर्म/३६	कौन व्यवहार ब्राह्मण जाति के लोगो से श्रेष्ठ बनाता है, इसका समाधान।
१३ नारद-अप्सरा पचचूडा सवाद	अनुशा०/दानधर्म/३८	नारी स्वभाव क्या है तथा नारियाँ सब दोषो की क्या मूल हैं, इसका उत्तर।
१४ च्यवन-कुशिक सवाद	अनुशा०/दानधर्म/५२	पुत्रो को छोडकर प्रपौत्रो मे विजातीयता का दोष उत्पन्न कैसे होता है, इसका उत्तर।
१५ बृहस्पति-इन्द्र सवाद	अनुशा०/दानधम/६१	यह पृथ्वी ही जगत् की माता-पिता है और इसके समान दूसरा कोई नही है, इसका निरूपण।
१६ देवकी नारद सवाद	अनुशा०/दानधर्म/६३	किस नक्षत्र मे किस वस्तु का दान करना चाहिए, इसका विवरण।
१७ ब्राह्मण यम सवाद	अनुशा०/दानधर्म/६७	तिल और दीपदान क्या है अन्न और वस्त्रदान कैसे

		होता है इसका समाधान।
१८ उद्दालक नाचिकेत सवाद	अनुशा०/दानधम/७०	गौदान से फल प्राप्ति का विवरण।
१९ इन्द्र-ब्रह्मा सवाद	अनुशा०/दानधम/७१	गौदान करने वाले मनुष्य किन लोकों म रहते हैं इसका विवरण।
२० गौभि नृप लक्ष्मी सवाद	अनुशा०/दानधम/८१	क्या गायो के गोबर म लक्ष्मी का निवास है? इसका उत्तर।
२१ ब्रह्मा इन्द्र सवाद	अनुशा०/दानधम/८२	गौओ से बढकर इस लोक और परलोक म कुछ भी नही है ये उभयत्र परम तेजस्वरूप कही गयी हैं।
२२ जमदग्नि-पुत्र परशुराम कथा	अनुशा०/दानधम/८३	आयुष्य प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है।
२३ वृषादर्भि-सप्तर्षि सवाद	अनुशा०/दानधम/९४	दान देने वाले और लेने वाले की क्या विशेषता होती है इसका निरूपण।
२४ इतिहास	अनुशा०/दानधम/९६	तीर्थयात्रा के समय शपथ ले या न ले इसका समाधान।
२५ सूय जमदग्नि सवाद	अनुशा०/दानधम/९७	अच्छे दान का प्रकार तथा किस प्रकार यह पुण्य प्रद है, इसका निरूपण।
२६ श्रीकृष्ण पृथ्वी सवाद	अनुशा०/दानधम/१००	गाहस्थ्य धम का वणन किया गया है तथा किस कारण मनुष्य इस लोक म वृद्धि पाता है, इसका निरूपण भी।
२७ प्रजापति मनु सुवर्ण सवाद	अनुशा०/दानधर्म/१०१	दीपदान नामक कम की विधि उत्पत्ति और फल क्या है, इसका विवरण।
२८ भृगु-नहुष सवाद	अनुशा०/दानधर्म/१०२	गृहस्थ किस कारण बलि दें, इसका उत्तर।

२६ चाण्डाल क्षत्रिय वधु-सवाद	अनुशा०/दानधर्म/१०४	जो ब्राह्मण का धन हरते है, वे किस लोक म जाते है, इसका उत्तर।
३० इन्द्र गौतम मुनि सवाद	अनुशा०/दानधर्म/१०५	कैसे-कैसे कर्म करने वाले मनुष्य किन-किन लोगो मे जाते हैं इसका उत्तर।
३१ ब्रह्मा भागीरथ सवाद इतिहास	अनुशा०/दानधर्म/१०६	तपस्या से उत्कृष्ट दूसरा कोई साधन नही है इसका निरूपण।
३२ मैत्रय-श्रीकृष्ण-द्वैपायन सवाद	अनुशा०/दानधर्म/१२१	विद्या तपस्या और दान म से श्रेष्ठ क्या है ? इसका उत्तर।
३३ ब्राह्मण मोक्ष कथा	अनुशा०/दानधर्म/१२५	वन म राक्षस के द्वारा पकड़े जाने पर ब्राह्मण कैसे छूटा इसकी कहानी।
३४ पवन अजुन सवाद	अनुशा०/दानधर्म/१३७	किस प्रकार क फल तथा कर्मोदय को देख कर ब्राह्मणो की पूजा की जाती है, इसका उत्तर।

□□